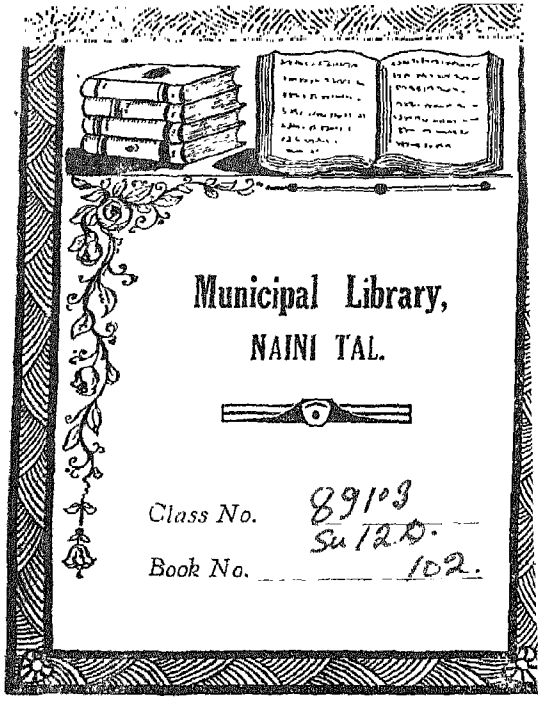
Municipal Library,
NAINI TAL.

Class No. 891.3
Su 12.0.
Book No. 102.

दीप-निर्वाण

[बँगला की प्रसिद्ध लेखिका श्रीमती स्वर्णकुमारी
देवी का एक उत्कृष्ट ऐतिहासिक
उपन्यास]

अनुवादक—

श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'

प्रकाशक:—

उत्थान-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

बाज़ार सीताराम,

दिल्ली ।

पहली बार २०००

१९३३ ई०

मूल्य आठ आना

प्रकाशक—
उत्थान-ग्रन्थमाला-कार्यालय,
बाज़ार सीताराम,
दिल्ली।

सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रक—
बाबू हरनामदास गुप्त
भारत प्रिंटिंग वर्क्स,
बाज़ार सीताराम,
दिल्ली।

पूर्वाभास

'दीप-निर्वाण' ऐतिहासिक उपन्यास है—कोरी ट्रेज़िडी। यह भारत-वर्ष के दुर्भाग्य की कहानी है, जिसे पढ़कर वेदना के दो आँसू बरबस ढुलक पड़ते हैं। आपस की फूट, राज्य का लोप और प्रेम की निराशा, मनुष्य को कितना घातक, कितना हिंस बना देती है, यह इस पुस्तक में बड़ी अच्छी तरह दिखलाया गया है। मुहम्मदग़ोरी ने जयचन्द की सहायता से दिल्ली पर चढ़ाई करके पहली बार शिकस्त खायी थी, किन्तु दूसरी बार घर के भेदिया ने सोने की लङ्का को राख में मिला दिया। विजय की ईर्ष्या और तज्जनित देश-द्रोह, देश के पतन का सहायक हुआ और मुहम्मद ग़ोरी की विजय हुई। कथानक ऐतिहासिक है और उपन्यास की मूल लेखिका श्रीमती स्वर्णकुमारी देवी ने घटनाओं की ऐतिहासिकता की रक्षा करने का पूरा प्रयत्न किया है; किन्तु जहाँ-तहाँ वे कुछ भौगोलिक ग़लतियाँ कर गयी हैं। अनुवाद में उन ग़लतियों से बचने का प्रयत्न किया गया है। उपन्यास में, बीच-बीच में प्रेम के जो वर्णनात्मक स्थल आये हैं, वे बड़े मधुर और मनोरञ्जक हैं। स्त्री-पात्रों में शैलकुमारी का चित्र बड़ा मनोरम और कौतूहल से भरा हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक मूल बँगला का अविकल अनुवाद नहीं है। अविकल अनुवादों में मूल का सौन्दर्य नहीं आ पाता, ऐसी मेरी धारणा है—और मैं अपने को कट्टर सौन्दर्योपासक मानता हूँ, सौन्दर्य की अवहेलना

करके चल नहीं सकता। मेरे विचार में हम जहाँ भाषा का अनुवाद करने लगते हैं, वहाँ आस्वाद्य जो कुछ है, उसे छोड़ जाते हैं। मैं अपने अनुवादों में आस्वाद्य को ही ग्रहण करने की चेष्टा करता हूँ, और सब छोड़ जाता हूँ। इस पुस्तक में भी मैंने ऐसा ही किया है, यहाँ तक कि बीच का एक पूरा परिच्छेद ही छोड़ गया हूँ, पर मैं अपने पाठकों को विश्वास दिला सकता हूँ कि ऐसा करके मैंने पुस्तक की सुन्दरता में रत्ती भर भी फ़र्क़ नहीं आने दिया—कुछ अधिक सुन्दरता आ गयी हो तो मैं नहीं जानता!

मैं श्रीयुत बाबू हरनामदास जी गुप्त का अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने मेरी इस क्षुद्र कृति को अपनी सुन्दर माला में स्थान दिया है। मुझ पर उनकी जो कृपा है, और प्रकाशन-क्षेत्र में एक सुन्दर आदर्श सामने रखकर उन्होंने मेरी इस रचना का जो आदर बढ़ाया है, यह उनके हृदय की पवित्रता की फल है। भगवान् उन्हें साहित्य-सेवा के कार्य में उत्तरोत्तर संलग्न करें।

ओझा बन्धु आश्रम,
इलाहाबाद, १०-१२-३२ ;

विनीत—
प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'

-:३०:-

दीप-निर्वाण

[१]

आज चित्तौर नगरी में बड़ी धूमधाम है—राज-प्रासाद में महा महोत्सव मचा हुआ है। शहर में जगह-जगह नौबत बज रही है, कङ्गाल-दुखियों में धन बाँटा जा रहा है, चारों ओर दीपक जलने के कारण सारा शहर प्रकाशमान हो रहा है, घर-बाहर, हाट-बाज़ार सभी जगह हंसी के फौवारे छूट रहे हैं, सभी के हृदय उल्लास से भरे हुए हैं, सभी के दरवाज़ों पर केले के पत्ते और मङ्गल-घट रखे हुए हैं, बीच-बीच में उन घटों से मङ्गल-सूचक शङ्ख-ध्वनि सुन पड़ती है। राज-प्रासाद हास्य-बिलास और नाच-गाने से मुखरित हो रहा है। चित्तौर में आज जिधर ही दृष्टि जाती है, उत्सव और आनन्द दीख पड़ता है।

आज यह कैसा उत्सव है?

महाराज समरसिंह के घर में आज फिर एक पुत्र ने जन्म लिया है।

चित्तौराधिपति की पहली रानी के तीन लड़के हुए। उनकी अकाल मृत्यु होने पर महाराज ने लक्ष्मीदेवी से विवाह किया। उनके कोई सन्तान न होने के कारण उन्होंने पुनः पत्तनराज की कन्या कमलदेवी का पाणिग्रहण किया। कमलदेवी के आज पहला पुत्र हुआ है। तीन पुत्रों के होते हुए भी समरसिंह ने पुत्र की इच्छा से फिर विवाह क्यों किया? यह बात आश्चर्य की है ज़रूर, पर आगे चल कर यह आश्चर्य दूर हो जायगा।

सन्तान के जन्म धारण करने के क्षणभर पहले से महाराज समरसिंह आज चिन्ता में मग्न हैं। उनका चौड़ा और महान् मस्तक चिन्ता से सिकुड़ गया है। उनकी सुदीर्घ, स्थिर और उज्वल आँखों की गम्भीर और मधुर दृष्टि आज शून्य की ओर लगी हुई है। उस मूर्ति को देखते ही हृदय में तरह-तरह के भावों का उदय होता है। जिस प्रकार अन्तहीन समुद्र की शोभा देखने से मनुष्य का हृदय प्रशस्त हो जाता है, सभी महान्, सभी विस्तीर्ण, सभी आनन्दमय होकर मन को नवीन भावों से ओतप्रोत कर देता है, तरङ्गों के साथ-साथ हृदय नाचने लगता है, किन्तु उस आनन्दोच्छ्वास के भीतर-ही-भीतर एक भय और आतङ्क का भाव भी जागता रहता है, उसी प्रकार समरसिंह की उन स्थिर-गम्भीर आँखों से आँखें मिलते ही हृदय में श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न होता है और साथ-ही-साथ हृदय काँपने भी लगता है। उनकी मूर्ति तेजस्विनी किन्तु अहंकार शून्य है, प्रशान्त किन्तु दृढ़प्रतिज्ञा व्यञ्जक हैं। समरसिंह की उम्र केवल छब्बीस वर्ष की है, लेकिन

उनका डीलडौल देखने से वे अपनी उम्र से काफ़ी बड़े मालूम पड़ते हैं। महाराज जिस कमरे में बैठे थे, सहसा उस कमरे में प्रवेश करके एक नौकर ने एक ही साँस में कह डाला—"महारानी के पुत्र हुआ है।" यह शुभ-सम्वाद सुनते ही महाराज का मुख-मंडल प्रसन्नता से खिल उठा, मानो पूर्णचन्द्र के उदय से विशाल समुद्र रजत-मार्जित होकर उथल आया हो !

समरसिंह बड़े प्रसन्न चित्त से, पुत्र का मुख देखने के लिए अन्तःपुर में गये। पूर्णिमा के दिन, चन्द्रोदय के साथ-ही-साथ कुमार ने धरित्री के दर्शन किये। इस शुभ लग्न में कुमार का जन्म देखकर सभी के हृदय आह्लाद से भर गये। राजपुरोहित मङ्गलाचार्य जहाँ कुमार के भाग्य की गणना कर रहे थे, समरसिंह वहीं गये। मङ्गलाचार्य राजप्रासाद के बगीचे में कुश के आसन पर बैठे हुए थे, उनके हाथ में पोथी थी, रेशमी वस्त्र पहने हुए थे। चौड़े माथे में एक चन्दन का त्रिपुण्ड लगाये हुए थे। वे पुस्तक की ओर आँख गड़ाये कुमार के भाग्य की गणना कर रहे हैं और शायद ग्रह-नक्षत्रों की गति निकालने के लिए बीच-बीच में आसमान की ओर भी देख लेते हैं। आसमान में बादलों का नाम तक नहीं है, बीच-बीच में तारे टिमटिमा रहे हैं और पूर्णचन्द्र की निर्मल किरणों से सारा उद्यान, सरोवर, वृक्ष-पत्र रजत-वर्ण धारण कर रहे हैं। इस प्रकाश के सामने दीपकों के प्रकाश की क्या शोभा है ?

समरसिंह ने आकर देखा, गुरुदेव गणना कर रहे हैं किन्तु

उनके मुँह पर विषाद की रेखा अङ्कित हैं। यह देखकर समरसिंह की प्रसन्नता गायब होगयी। उन्होंने पूछा—"गुरुदेव! कुमार के भाग्य में क्या देखा? भविष्य में वह राजा हो सकेगा न?"

मङ्गलाचार्य ने गम्भीर स्वर में कहा—'होगा—'किन्तु·····

किन्तु सुन कर विषाद और विस्मय की अधिकता से समरसिंह ने मङ्गलाचार्य की बात पूरी होने के पहले ही पूछा—"इस बार भी किन्तु? हाय! मैंने ऐसा क्या पाप किया है कि मेरे वंश में कोई राज्य-सिंहासन न पा सकेगा? मेरे बड़े लड़के कल्याण की भाग्य गणना करके आपने कहा था—'यदि कल्याण राजा हो तो चित्तौर का सौभाग्य है। ऐसा सुपुत्र अब तक तुम्हारे इस वंश में उत्पन्न नहीं हुआ था, किन्तु कल्याण कोई शाप-भ्रष्ट देवता है। राजा होने की उम्र तक वह इस लोक में रहेगा या नहीं, इसमें सन्देह है। तुम उसके राजा होने की आशा छोड़ दो।' कल्याण की मङ्गलकामना के निमित्त मैंने आप से कितना यज्ञ-दान, जप-तप करने को कहा पर आप किसी तरह उसका ग्रह दूर न कर सके। कल्याण की आशा मैंने छोड़ दी। कल्याण के जो दो छोटे भाई हैं, उनके लिए आपने कहा—'ये राजा होने के योग्य नहीं। ये राजा होंगे तो चित्तौर का अमंगल होगा। तुम फिर विवाह करो।' इसी से उन दोनों की आशा छोड़ कर मैंने लक्ष्मीदेवी से विवाह किया। उसके सन्तान न होती देख आपकी आज्ञा से मैंने पुनः कमलदेवी से विवाह किया। उनके गर्भवती होने पर आपने कहा था—'इस बार जो पुत्र होगा, वही गद्दी पर बैठेगा।' मैं

कितना खुश हुआ, मैंने ईश्वर को कितना धन्यवाद दिया। अब आज आप कहते हैं। 'राजा होगा किन्तु!' अब किन्तु क्या है? मेरे प्रारब्ध में ही नहीं है, आप क्या करेंगे?"

गुरु—"वत्स! इतने निराश मत होओ! अदृष्ट का लिखा मिटाया नहीं जा सकता! मैं क्या करूं? इस कुमार के सभी राज लक्षण हैं; जैसे हो, यह राजा होगा; लेकिन तीन वर्ष की उम्र में इसके एक ग्रह है। तीन वर्ष तक इसे सावधानी से रखना होगा! तीन वर्ष कट गये तो फिर किसी बात का भय न रह जायगा।" इसी समय सहसा पास ही कुछ शोर गुल सुन पड़ा। दोनों ने उधर ताक कर देखा कि एक स्त्री के हाथ से दो तीन दूसरी स्त्रियाँ कुछ छीन रही हैं, पर वह देती नहीं और शोर मचा रही है। धीरे-धीरे वे सब राजा के पास आयीं। एक ने कहा—"महाराज यह आपके नवजात शिशु को उठाये लिये जा रही है। उसे किसी तरह हम लोगों को नहीं देना चाहती। जबरदस्ती छीनने से कुमार को कुछ चोट पहुँचे, इसलिए हम छीन भी नहीं सकतीं।" उसकी बात खत्म होते ही मङ्गलाचार्य ने समरसिंह से पूछा—

"यह पगली कौन है?"

समरसिंह ने कहा—"आप क्या बिन्दू दासी को पहिचानते नहीं? आपको मालूम नहीं कि वह आजकल पागल हो गयी है?"

मङ्गलाचार्य ने कहा—"तीर्थ से लौटने पर मैंने यह बात नहीं सुनी। और, पगली होने पर यह जैसी बदल गयी है, इससे सचमुच ही मैं इसे नहीं पहचान सका। लेकिन यह पागल हुई क्यों?"

समरसिंह—"छः महीने हुए बिन्दू के एक बच्चा हुआ था। बच्चा होने के दो-तीन महीने बाद ही वह विधवा हो गयी। उसके कुछ ही दिनों बाद बच्चे की भी मृत्यु हो गयी। तभी से वह पागल हो गयी है। अब इस पगली का यह ख़याल है कि मैं इसका पति हूँ, और इसका बच्चा मरा नहीं है, उसे कोई चुरा ले गया है। इसके अलावा और बातों में यह ज़्यादा पागलपन नहीं करती।" इसी समय पगली बच्चे को चूमते-चूमते बोली—"महाराज! आज मैंने अपने खोये हुए धन को पाया है। अहा! जैसा था, ठीक वैसा ही है। किसने चुराया था, जानते हो?" यह कहकर समरसिंह के कान के पास मुँह ले जाकर उसने धीरे-धीरे कहा—"मेरी सौत ने। आज मैंने देखा, मेरे बच्चे को वह गोद में लेकर सोयी हुई है। देखते ही मैं झटपट उसे उठाकर भाग आयी हूँ। कैसा छकाया है! कैसा मजा है!! हा-हा-हा-हा!!!"

सौत को उसने धोखा दिया है, इसी खुशी में वह हो-हो करके हँसने लगी। समरसिंहने कहा—"नहीं, यह पुत्र तुम्हारा नहीं है। जिसके पास से लायी हो, यह उसी का पुत्र है। तुम्हारा पुत्र अब तक बड़ा हुआ होता। देखती नहीं, यह अभी का जन्मा बच्चा है।"

पगली ने नाराज़ होकर कहा—"क्या—तुम भी सौत की ओर होकर मेरे बच्चे को उसे देने को कहते हो? मेरा मालिक भी मुझपर नाराज़ है? नहीं, अब मैं अपने बच्चे को नहीं दूँगी, चाहे तुम सौत के ही होकर रहो। अब मैं तुमपर अपना हक़ न कहूँगी। अब मैं तुम्हें नहीं चाहती। तुम अकेले सौत के ही होकर

रहो। मैं अपने बच्चे को लेकर रहूँगी। मैंने अपना खोया हुआ धन फिर पा लिया है-- अब मुझे चिन्ता क्या है ?" पगली बच्चे को समरसिंह के मुँह के पास ले आकर फिर कहने लगी—"देखो न, मेरे बच्चे का मुँह ठीक वैसा-का-वैसा ही है ! ओहो ! इतनी देर से मैं लायी हूँ, बच्चे को तुमने जरा प्यार भी न किया ? समझी, यह बुरी रानी का बच्चा है न, अच्छी का होता तो अब-तक न जाने कितनी बार प्यार कर चुके होते ?"

समरसिंहने कहा— "अच्छा, मेरी गोद में दो, मैं प्यार करूँ।"

"तुम्हारी गोद में देते मुझे डर लगता है ! तुम सौत के वश में हो। ले जाकर उसे दे दो तब ?.....लेकिन, लो, तुम्हारा भी तो बच्चा है ! तुम्हें भी तो इसे गोद में लेने को जी करता होगा ! लेकिन, बस एक बार प्यार कर मुझे वापस कर देना।"

समरसिंह ने पगली की गोद से लेकर बच्चे को एक दासी की गोद में दे दिया। दासी उसे लेकर अन्तःपुर में चली गयी। पगली क्षणभर तक क्रोध और विस्मय से राजा की ओर देखती रही और फिर क्रोध से काँपती हुई बोली—"विश्वासघाती ! यही तेरा कर्तव्य है ? आज मेरा रूप गया है, मेरी मोहिनी गयी है, इसी से ? अच्छा, जाय, जाय, सब जाय—मेरा है कौन ? मेरा मालिक मेरा नहीं है, सौत के वश में है ; मेरा बच्चा मेरा नहीं है, सौत का है; तो मेरा है कौन ?" पगली गुस्से में भरी, गाली देती-देती चली गयी। पगली जबतक थी, मङ्गलाचार्य टकटकी लगा-कर उसकी ओर देखते रहे। उसके चली जाने पर उन्होंने कहा—

"कुमार तीन वर्ष तक इस पगली की गोद में न जाने पावे। एक तो वह पागल है, उसकी गोद में बच्चा देना ही उचित नहीं है, फिर उसके मन का भाव बदल भी सकता है। अभी अपना बच्चा समझकर वह उसे प्यार करती है, थोड़ी देर में सौत का बच्चा समझकर कुछ अनिष्ट भी कर सकती है। फिर बच्चे को लेने के लिए वह जिस तरह उत्सुक है, उससे यह मालूम पड़ता है कि सम्भवतः उसी के द्वारा कुमार का कुछ अनिष्ट हो। अतः तीन वर्ष तक कुमार किसी की गोद में न जाने पावे और हमेशा इसके गले में रक्षा-कवच बँधा रहे। तीन वर्ष यदि निर्विघ्न भाव से कट जाय तो फिर कुछ चिन्ता न रहेगी।"

मङ्गलाचार्य ने फिर कहा—"एक बात और है। लक्ष्मीदेवी के सन्तान नहीं है। सौत की सन्तान देखकर यदि वे भी कुछ अनिष्ट करना चाहें तो उसका रास्ता भी बन्द करना पड़ेगा। कमलदेवी को सब बात समझाकर इस बच्चे को लक्ष्मीदेवी को सौंप दो। यह बच्चा आज से लक्ष्मीदेवी का पोष्य-पुत्र हो। यह कुमार कमलदेवी का पुत्र है, यह बात कोई मुँह से भी न कहे। लक्ष्मीदेवी कुमार को अपना पुत्र समझेंगी तो उनकी ओर से भी अनिष्ट की कोई आशङ्का न रह जायगी।"

मङ्गल स्वामी ने जो-जो कहा, महाराज ने वही किया। कुमार को किरणसिंह यह नाम दिया गया। लक्ष्मीदेवी उसे पुत्र-रूप में पाकर बड़ी प्रसन्न हुई। वयोवृद्ध के साथ ही दिन-दिन कुमार की श्री-सौन्दर्य-वृद्धि होने लगी। पगली अपना पुत्र जानकर उसे

खूब स्नेह करती, पर बहुत आरजू-मिन्नत करने पर भी उसे गोद में न ले पाती थी। पगली इस बात से बहुत दुखी और कभी २ नाराज़ भी होती थी। लेकिन, करे क्या ? पति सौत के वश में हैं—उसकी कौन पूछता है ? क्रम से बच्चे ने तीसरे साल में पैर रक्खा। पगली धीरे-धीरे सन्तान को पुनः पाने की आशा छोड़ने लगी। अब यदि उसकी सौत एक बार भी बच्चे को उसकी गोद में दे दे तो वह बच्चा सौत को ही सौंप देगी, ऐसा उसने निश्चय कर लिया है। मन-ही-मन यह निश्चय करके एक दिन उसने एक दासी से कहा—"जाकर सौत से कह दो, मैं अपना बच्चा उसे दे दूँगी। अब भी क्या वह एक बार बच्चे को मेरी गोद में न देगी ?" उस समय किरणसिंह उसी दासी की गोद में था और वहाँ दूसरा कोई न था। दासी ने उसकी बात पर हँसकर कहा-"नहीं भाई, नहीं, न देंगे। मालिक जिसके वश में नहीं, उसकी बात कोई नहीं सुनता।"

पगली ने सोचा था, जब वह इतना मञ्जूर कर लेगी तो बच्चे को गोद में लेने पावेगी। अब दासी की बात से विस्मित और हताश होकर वह पहले तो गाली-गलौज करने लगी और फिर आरजू-मिन्नत की; लेकिन किसी तरह दासी को टस-से-मस न कर सकी तो गुस्सा कर कहने लगी—"मेरे बच्चे को एकबार देगी भी नहीं ? कैसी किस्मत है ! पति सौत के वश में है और ये सब मेरे ही बच्चे को मुझे देते तक नहीं; गोद में भी नहीं लेने देते !" यही सब कहती हुई, बच्चे की ओर एकटक देखकर वह

रोने लगी। दासी ने फिर भी कुमार को उसकी गोद में न दिया। बच्चे को किसी तरह गोद में न पाकर पगली बेतरह नाराज़ हो गयी। बड़बड़ाती हुई वह वहाँ से चली गयी। बोली—"अच्छा, ठैरो। देखना, एक दिन कैसे मैं अपने बच्चे को नहीं ले जाती हूँ। एक बार मेरे बच्चे को गोद में भी नहीं दिया। भगवान् मेरा बच्चा मुझे देंगे।" दासी पगली की बात कुछ समझ न सकी। इसी बीच में पगली राज-प्रासाद से बाहर निकल गयी। पगली का अपना कोई न था। एक तो वह साधारण स्त्री थी, फिर पागल, उसके चली जाने पर फिर किसी ने उसकी खोज-खबर न ली।

---

[२]

कुमार किरण सिंह की उम्र प्रायः तीन वर्ष की हो गयी है। अब वह हमेशा गोद में न रहकर कभी अपनी धाय के साथ बाग़ में टहलता, कभी दौड़ता और कभी फूल नोचता, इसी प्रकार तरह-तरह के खेल करता और फिर दौड़कर धाय की गोद में आ-चढ़ता और तोतली भाषा में तरह-तरह की बातें कहता। पगली के चले जाने के कुछ समय बाद एक दिन किरण सिंह अपनी धाय की उँगली पकड़कर बाग़ में घूम रहा था। धाय उसे फूल तोड़-देकर तथा कहानियाँ सुना-सुनाकर खुश कर रही थी। कुमार कह रहे थे-"क्यों, वह पगली क्यों नहीं आयी?"

धाय ने कहा—"क्यों ? पगली के आने से क्या होगा ?"

कुमार ने कहा—"मैं झट दौड़कर उसकी गोद में चला जाऊँगा।"

धाय—"हम जाने ही क्यों देंगे ?"

कुमार—"वाः, दोगी क्यों नहीं ? मैं दौड़कर उसकी गोद में चला जाऊँगा—वह मुझे लेना चाहती है।"

धाय ने कहा—"वह तो पागल है। तुमको मारने लगे तब ?"

कुमार—"मारेगी क्यों ? मुझे तो कोई नहीं मारता—मैं झट दौड़कर उसकी गोद में चला जाऊँगा।"

धाय—"नहीं, खबरदार, उसकी गोद में नहीं जाते।" लेकिन बच्चों को जिस बात के लिए मना किया जाता है, वे उसको उसी वक्त कर डालने के लिए उतावले हो जाते हैं, धाय की बात सुनकर कुमार ने कहा—"मैं तो जाऊँगा।"

धाय ने उसे बहलाने के लिए कहा—"वह तो यहाँ है नहीं, जाओगे कैसे ?"

कुमार—"नहीं, मैं तो जाऊँगा।"

धाय ने बात बदलने के लिए कहा—"हुश्! वह देखो कितना सुन्दर फूल खिला है!" बस, किरण पगली की बात भूलकर उत्सुकता से पूछने लगे—"कहाँ ?"

धाय—"यह रहा तालाब के किनारे। पास ही है।"

किरण ने फिर पूछा—"कहाँ ?"

धाय—"यह इस पेड़ की आड़ से थोड़ा-थोड़ा दिखता है। किरणने कहा—"मैं यह फूल लूँगा। जाताहूँ।" यह कहकर कुमार

उसी ओर दौड़े। धाय ने उन्हें पकड़कर कहा—"दैया रे! वह तो तालाब के किनारे फूला है, तुम उसे कैसे पाओगे? गिर पड़ो तब?" पहले तो कुमार ने धाय से हाथ छुड़ाना चाहा, न छुड़ा सके तो बोले "मैं यह फूल लूँगा, न मिला तो माँ से कह दूँगा।"

धाय ने देखा कि पानी में जाकर फूल ले आना सहज नहीं है। बोली—"देखो, यहीं कितने फूल लगे हुए हैं।"

कुमार—"यह नहीं, मैं तो वही फूल लूँगा।"

धाय—"तब ड्योढ़ी पर चलकर किसी पहरेदार से कहो, वह फूल ला देगा।"

कुमार—"नहीं, पहरेदार नहीं, तुम्हीं फूल लाकर दो।"

कुमार की ज़िद से किसी तरह छुटकारा न पाते देख धाय खुद ही फूल लाने को राज़ी हुई। बोली—"तब चलो तुम्हें, पहरेदार के पास रखकर मैं ही फूल ले आऊँ।"

चित्तौर का राज-प्रासाद दुर्ग की तरह बना हुआ है। राज-प्रासाद के चारों ओर ऊँची दीवार घिरी हुई है। उस दीवार और राज-महल के बीच में जो जगह है, वह फूल-पत्तों, वृक्षों, प्रस्तर प्रतिमाओं तथा फौवारों से एक अच्छे बगीचे की तरह सजाया हुआ है। दीवार के चारों ओर चार रास्ते बने हुए हैं। हरेक दरवाज़ों पर सिपाही हर वक्त पहरा दिया करते हैं। इन चार दरवाज़ों के अलावा अन्दर आने का और कोई रास्ता नहीं है। दीवार के बाहर भी एक बगीचा है और उस में भी चार मुख्य दरवाज़े हैं, जिनका ज्यादा उपयोग नहीं होता। इन दरवाज़ों पर

भी एकाध सिपाही हमेशा ही पहरे पर रहते हैं। धाय ने यहीं आकर एक पहरेदार से कहा—"मैं जरा कुमार के लिए फूल तोड़ने जाती हूँ, तबतक इन्हें अपने पास रक्खो।"

किरण को सिपाही के पास छोड़कर धाय फूल तोड़ने गयी। फूल पानी के अन्दर था। धाय सँभल-सँभल कर दो-चार क़दम पानी में उतरी। तभी उसका पैर फिसल गया और वह चिल्लाकर छपाक् से पानी में गिर पड़ी। उसकी चिल्लाहट सुनकर सिपाही कुमार को वहीं छोड़कर दौड़ आया। धाय डर से अधमरी हो रही थी, सिपाही ने उसे निकाला, शान्त किया, तब दोनों दरवाज़े पर आये। लेकिन, कुमार को जहाँ छोड़ गये थे, वहाँ कुमार का पता भी न था। वे दोनों घबरा गये। उन्होंने सोचा कि कुमार खेलते-खेलते कहीं गिर-पड़ न गये हों। उन दोनों ने कुमार को इधर-उधर बहुत ढूँढा, पर कहीं उनका पता न चला। तब उन दोनों ने सोचा कि शायद कोई नौकरानी इधर से गुज़री हो और कुमार को अकेला देखकर लेती गयी हो! धाय यह सोच-सोच कर डरने लगी कि कुमार को अकेला छोड़ने के लिये रानी न-जाने कितनी नाराज़ होंगी। डरती-डरती वह रनवास की ओर चली। वहाँ जाकर रानियों के कुछ कहने के पहले ही रुँधे गले से कहने लगी—"मेरा कोई क़ुसूर नहीं है, मैं तो सिपाही के पास रख गयी थी, लेकिन……लेकिन……"

कमला देवी ने कहा—"क्या बकती है? पागल हो गयी क्या?"

उनको नाराज़ होते न देखकर धाय को थोड़ा साहस हुआ।

बोली—"मैं क़स्म खाकर कहती हूँ, सचमुच ही मैं कुमार को सिपाही के पास रखकर गयी थी, लेकिन मनुष्य के लिए ही दैवी विपत्ति है!"

कमला देवी ने डरकर पूछा—"अरे कौन-सी दैवी विपत्ति फट पड़ी? कुमार क्या सिपाही की गोद से गिर पड़े हैं?"

धाय—"कुमार क्यों गिरेंगे? मैं बलैया लूँ! अरे, आज तो मैं ही तालाब में डूबकर मरते-मरते बची!"

रानियों ने हँसकर कहा—"तो बच कैसे आयी?"

धाय—"मेरी चिल्लाहट सुनकर सिपाही ने दौड़कर मुझे बचाया। अब आप इन्साफ़ कीजिए, इसमें मेरा क्या क़ुसूर है?"

कमला—"क़ुसूर है यह कौन कहता है। तू गिर गयी थी, सिपाही ने तुझे बचा लिया, इसमें क़ुसूर की क्या बात हुई?"

धाय—"यही तो मैं भी कहती हूँ, इसमें मेरा क्या क़ुसूर है, लेकिन फिर भी आप नाराज़ होंगी, इसी डर से मरी जारही थी।"

कमला—इसमें डरने की क्या बात थी? तू डूबते-डूबते बच गयी, यह सुनकर हम लोग ख़ुशी होंगी, नाराज़ क्यों हों?"

धाय—"यही तो मैं भी कहती हूँ। आप ही लोग हमारे माँ-बाप हैं, आप हमें प्यार न करेंगे तो और कौन करेगा? लेकिन कुमार कहाँ हैं? मैं उनके लिए यह फूल तोड़ लायी हूँ।"

कमला—"कुमार कहाँ हैं, यह हमें क्या मालूम? तू तो कह रही है, उन्हें तू सिपाही के पास छोड़ गयी थी?"

धाय—"मैंने तो समझा था, आप लोगों ने मुझे माफ़ कर

दिया; आप सुन ही चुकीं, इसमें मेरा कोई क़ुसूर नहीं था। फिर अब क्यों ? इस बार मुझे माफ़ कर दीजिए।"

कमलादेवी ने नाराज़ होकर कहा—"मैं समझ गयी—तुम्हारी असावधानी से कुमार को कहीं चोट लग गयी है। क्या हुआ है, साफ़ बताती क्यों नहीं ? अब मैं और तेरी 'माफ़ कीजिए' नहीं सुनना चाहती।"

धाय—"मैं बलैया लूँ ! कुमार को कुछ भी नहीं हुआ।"

"फिर ?"

"सिपाही कुमार को अकेला छोड़कर मुझे निकालने गया था, यही कह रही हूँ।"

"अकेला छोड़कर गया था तो क्या हुआ ?"

"और कुछ नहीं, इस समय हम लोग परेशान हो रहे हैं।"

"क्यों ?"

"कुमार को अकेला देखकर हम लोगों को परेशान करने के लिए कोई उन्हें उठा लाया है।"

"इसमें तुम्हारे परेशान होने की क्या बात है ?"

"यही कि कुमार को आपके पास दे जायगा और आप हम-लोगों पर नाराज़ होंगी।"

"कहाँ ? हमारे पास तो कुमार को कोई नहीं ले आया ?"

धाय को रानी की बात पर विश्वास न हुआ। उसने समझा, ये ठट्ठा कर रही हैं। बोली—"अब की मुझे माफ़ कीजिए। अब कभी मैं कुमार को अकेला छोड़कर न जाऊँगी। वे कहाँ हैं, बतला दीजिए।

रानियों ने आश्चर्य-चकित और भयभीत होकर कहा—"तूने किसे दिया, वह कहाँ लेगया, यह हमको यहाँ से कैसे मालूम हो सकता है?"

धाय तब गिड़गिड़ाती हुई उनके पैरों पर गिर पड़ी। बोली—"अब मेरी बहुत सजा हो चुकी। अब ऐसी ग़लती न करूँगी।"

रानियाँ उसके इस व्यवहार से बहुत चकित हुईं और घबरायीं। उन्होंने उसे सारी बात विस्तार से बताने को कहा। धाय ने जो कुछ बताया, उससे उनके होश उड़ गये। क्षणभर में राज-महल में हलचल मच गयी। एक-एक करके सभी नौकर-चाकरों से पूछा गया, पर कोई कुमार का पता न बता सका। लोग तरह तरह की कल्पना करने लगे। कुमार खेलते-खेलते कहीं तालाब में न जा गिरे हों, इस आशङ्का से सबके हृदय काँपने लगे। धीरे-धीरे यह बात महाराज समरसिंह के कानों तक पहुँची। वे स्वयं व्याकुल होकर चारों ओर खोज-ढूँढ़ करने लगे। शाम तक नगर का एक-एक कोना ढूँढ़ डाला गया, हर एक तालाब में आदमी पैठकर देख आया, पर कुमार का कहीं पता न चला। तब महाराज अत्यन्त खिन्न चित्त से धाय और सिपाही को बुलाकर पूरा हाल पूछने लगे। उन लोगों ने पहले जो बातें बतलायी थीं, अब भी वही बतलायीं। कुमार को सिपाही के पास रखकर धाय फूल तोड़ने गयी थी, यह बात सुनकर एक आदमी ने कहा—"महाराज! यह झूठ बोलती है, फूल तोड़ने तो सिपाही गया था। मैं अपनी आँख से देख आया हूँ कि पहरे पर सिपाही नहीं था। और यह कुमार को गोद में लेकर खिला रही थी!"

उसकी बात सुनकर धाय को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा—"महाराज! जबतक मैं बारामें थी, तबतक कुमार एक क्षणके लिए भी मेरी गोद में नहीं आये, बल्कि मेरी उँगली पकड़कर घूमते रहे। और मैं फूल तोड़ने गयी थी कि नहीं, इसकी गवाही यह सिपाही देगा।"

सिपाही ने धाय की बात का समर्थन किया। कहा—"मालूम होता है, जब मैं धाय को बचाने गया, उसी समय किसी दूसरी दासी ने कुमार को उठा लिया होगा और इन्होंने उसी की गोद में कुमार को देखा होगा, पर यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि कोई भी दासी कुमार को देखना तक स्वीकार नहीं करती।"

इसी समय दो-तीन सिपाही चिल्ला उठे—"कहीं ऐसा न हो कि पगली कुमार को उठा ले गयी हो, क्योंकि आज हमलोगों ने उसे राज-महल के बगीचे में घूमते हुए देखा था।"

धाय ने कहा—"बस महाराज, यही बात है। एक दिन वह कुमार को अपनी गोद में माँग रही थी, लेकिन मैंने नहीं दिया तो वह न-जाने-क्या बकती-बकती चली गयी।" धाय ने उसदिन का सारा क़िस्सा महाराज के सम्मुख निवेदन किया।

अब किसी को इस बात में सन्देह न रह गया कि कुमार को पगली ही चुरा ले गयी है। पहले यह बात ध्यान में नहीं आयी और इधर-उधर ढूँढ़ने में बहुत समय नष्ट किया गया, यह सोच-कर महाराज बहुत दुखी हुए और उन्होंने पगली की खोज में चारों ओर आदमी भेज दिये।

---

[३]

पगली कुमार को कैसे ले गयी, इस परिच्छेद में हम यही बात बतावेंगे।

राज-महल छोड़ने के बाद वह बन-जंगल में घूमती रही, पर कुमार को नहीं भूल सकी। कुछ ही दिनों के बाद किरण को देखने की उसकी इच्छा बहुत प्रबल हो उठी। किन्तु जो स्वामी सौत के वश में है, उसके घर जाना उसे अपमान-जनक मालूम पड़ा, फलतः उसने यह निश्चय किया कि वह राज-महल के बाहर कुमार को देख लिया करेगी।

उस दिन जब धाय फूल लाने गयी तो बाहर से पगली ने कुमार को देख पाया। सौत के घर की बात वह भूल गयी और उसने चुपके-चुपके राज-महल में प्रवेश किया। जब वह कुमार से थोड़ी दूर के फ़ासले पर आयी तो उसे चिल्लाहट की आवाज़ सुन पड़ी और एक आदमी को उसने दौड़कर जाते हुए देखा। अब कुमार अकेले थे। पगली ने मुँह-माँगी मुराद पायी—दौड़-कर वह कुमार के पास चली आयी। द्वार को सूना देखकर उसके मनमें नयी आशा का सञ्चार हुआ। उसे आज बहुत दिनों की आशा पूरी करने का अवसर प्राप्त हुआ। उसने झटपट कुमार को गोद में उठा लिया और बार-बार उसका मुख-चुम्बन करती

हुई कहने लगी—"अहा ! मेरे बच्चे को मुझे देते तक नहीं! बेटे, तुम मेरे बेटे हो, मेरे मानिक ! मेरे धन ! मेरे सर्वस्व ! मेरे जैसा तुम्हें कोई प्यार नहीं करता। चलो, तुम्हें एक फूल-बगिया दिखा लाऊँ—बड़ी सुन्दर बगिया !"

किरण ने कहा—"मैं तो वही फूल लूँगा।"

पगली—वहाँ बहुत फूल हैं और चिड़ियाँ हैं—मैं तुम्हें सब दिखाऊँगी, ढेर-सा फूल ला दूँगी।"

किरण ने खुश होकर कहा—"तब चलूँगा—कहाँ ?"

किरण को गोद में लिये हुए पगली बाहर निकल आयी। चलते-चलते उसने कहा—"लेकिन तुम रोना मत। रोओगे तो वे सब तुम्हें मेरी गोद से छीन ले जायँगे। मेरे साथ तुम्हें फूल-बगिया देखने न जाने देंगे।"

कुमार ने सिर हिलाकर कहा—"अच्छा।"

पगली ने राज-पथ छोड़कर जंगल का रास्ता लिया। दौड़ती-दौड़ती वह नदी के किनारे आयी और एक माँझी को बुलाकर उसने कहा—"मैं तुम्हारी नाव पर चलूँगी। नाव किनारे लगाओ।"

कुमार ने इसी समय पूछा—"फूल-बगिया कहाँ है ?"

पगली ने कहा—"इसी नाव पर बैठकर हमलोग बगिया देखने चलेंगे।" तब फिर बच्चे ने कुछ न पूछा।"

माँझी ने कहा—"हमलोग तो बहुत दूर जायँगे।"

पगली ने कहा—"तुम जहाँ जाओगे, वहीं हम भी जायँगे। जल्दी करो, नहीं तो सौत के आदमी मेरे लाल को मुझसे छीन ले जायँगे।"

माँझियों ने नाव तट पर लगा दी। पगली कुमार को लेकर उसपर जा बैठी। नाव चल दी। पगली ने अपनी कमर से कपड़े की एक थैली निकालकर उसमें से कुछ रुपये निकाले। उन्हें माँझी के हाथ पर रखकर बोली—"पहुँचा देने पर और मिलेगा।"

कुछ दूर चलने पर कुमार ने पूछा—"बगिया कहाँ है ?" पगली ने उन्हें लहरें दिखलाकर बहला दिया।

क्रम से सन्ध्या हो आयी। पश्चिम-आकाश में सन्ध्या-तारा दीख पड़ा। सान्ध्य-समीर से उत्थित होने वाली तरङ्गमालाएँ फूल-फूल कर नाव से टकराने लगीं। तरङ्गों का हृदय चीरकर, डाँडों के छप्-छप् के स्वर से स्वर मिलाकर माँझियों ने गाना शुरू कर दिया। नाव अब बहुत दूर आ गयी थी। कुमार भी फूल-बगिया, फूल-बगिया कहते-कहते थक कर पगली की गोद में सो गये थे। कृष्णपक्ष की प्रतिपद तिथि थी, लेकिन अबतक चन्द्रमा के दर्शन न हुए थे। ज्योत्स्ना-विधौत होकर अभी भी तरङ्ग-मालाएँ हँस नहीं रही थीं। और, हाय! सहसा यह क्या !! मालूम होता है, आज चन्द्रमा की स्निग्ध किरणें संसार को शीतल बनाने न आवेंगी। पूर्व दिशा में काले-काले मेघ घिर आये क्रम से मेघों ने सारे आसमान को ढक लिया। हवा तेज होने लगी और पानी में भी लहरें उठने लगीं। धीरे-धीरे बिजली चमकने लगी, बादल गरजने लगे। माँझियों को अब कुछ न सूझ पड़ने लगा। हिलोरों के बीच में नाव थपेड़े खाने लगी, उसमें लहरों की उछाल से धीरे-धीरे पानी भी भरने लगा। माँझी घबरा

कर नाव को तीर पर लगाने की कोशिश करने लगे। पर सब प्रयत्न व्यर्थ हुआ, भीषण झञ्झावात ने अपने एक ही चपेटाघात से नाव को उलट दिया। नौकारोही जल-मग्न हो गये। कुमार पगली की गोद से छूटकर दूर जा गिरे। तैरना जानने वाले माँझी तैरने लगे। उस भीषण अन्धकार में कोई किसी की सहायता न कर सका।

इधर जब राज-महल के आदमी पगली की खोज में निकले, उसके थोड़ी ही देर बाद शाम हो आयी और साथ-ही-साथ आँधी भी आयी। वायु के वेगसे फैलने वाली गर्द-गुबार उन लोगों के मुँह-आँख में भरने लगी। उस धूल-गर्द के कारण ऐसा अँधेरा छागया कि पास की चीज़ देखना भी मुश्किल होगया। थोड़ी देर बाद ही आँधी के साथ पानी भी आया—बड़े-बड़े वृक्ष टूट-टूटकर गिरने लगे। जो लोग शहर के बाहर आस-पास गये थे, वे चित्तौर वापस लौट आये। लौटते हुए सभी यह सोच रहे थे कि अबतक कोई-न-कोई कुमार को लेकर दूसरे रास्ते से महल में पहुँच गया होगा।

किन्तु और सब लोगों के लौट आने पर भी बेचारे समरसिंह अपने प्राणों के मुकुल को खोकर, भँवर में पड़ी नाव की तरह या भीषण झञ्झावात से क्षुभित समुद्र की तरह, उस आँधी-पानी में डोलते ही रहे। छोटे-छोटे पेड़-पौधे को देखकर उनके मन में होता था, जैसे यह उनका बच्चा ही हो, वायु की सनसनाहट में उन्हें कुमार की रुलाई सुन पड़ती थी, किन्तु अन्त में सब जगह उन्हें निराशा ही दीख पड़ती थी!

दौड़ते-दौड़ते वे कई बार नदी-तट पर आये। वह प्रशस्त

मृदुनादी नदी इस समय लोक-संहारिणी मूर्त्ति धारण करके भयङ्कर तर्जन-गर्जन कर रही थी। इसके वक्षःस्थल पर एक भी नाव नहीं दीखती थी। केवल तीर पर कुछ शून्य नौकाएँ बँधी हुई थीं कुछ नौकाएँ बञ्जारों की भी थीं, जिनपर आदमी बैठे हुए इस दुर्योग के निकल जाने की प्रतीक्षा कर रहे थे। समरसिंह ने उन सबसे कुमार के बारे में पूछा, पर वे कुछ भी न बता सके। तब हारकर महाराज वापस लौटे। छलनामकी आशा बार-बार उनके कानों में कहने लगी—"तुम यहाँ भटकते फिर रहे हो और उधर कुमार को दूसरे आदमी महलमें पहुँचा चुके हैं। इस समय वे माता की गोद में सुख की नींद सोये हुए हैं। राजमहल में चारों ओर हास्य-कल्लोल फैल रहा है।" पर राज-महल में आने पर उन्होंने देखा कि माँ की गोद सूनी है। राज-महल में हाहाकार फैला हुआ है। सभी उन्हीं की प्रतीक्षा कर रहे हैं। सभी को यही आशा थी कि महाराज अवश्य ही कुमार को लेकर लौटेंगे, पर महाराज लौट आये, साथ ही साथ कुमार के मिलने की आशा भी जाती रही।

महाराज के निराश लौट आने पर महल में चौगुना हाहाकार मच गया। उस रात किसी को नींद न आयी। सबेरे कौन किधर जायगा, इसी बात का बन्दोबस्त होने लगा। लोग पगली के बारे में तरह-तरह की बातें कहने लगे, पर यह बात किसी को न सूझी कि वह कुमार को लेकर नौका के द्वारा चित्तौर के बाहर भी जा सकती है!

सबेरा होने पर सब लोग फिर पगली की तलाश में निकले और कुछ देर बाद कई आदमी पगली की लाश लेकर लौट आये।

महाराज ने समझा, इसी के साथ कुमार की भी मृत्यु हो गयी। उन्होंने कम्पित स्वर में पूछा—"यह लाश तुम्हें कहाँ मिली ?"

जो लोग लाश ले आये थे, उन्होंने कहा—"हमलोग नदी तीर से इसे यहाँ ले आये हैं।"

"वहाँ कुमार नहीं दीख पड़े ?"

"न।"

"तो कुमार क्या हुए ? पगली मरी किस तरह ?"

"मालूम होता है, यह नाव पर कहीं जा रही होगी, कल आँधी आने पर नाव के साथ डूब मरी होगी।"

तब महाराज ने कुछ आदमियों को उस नाव का पता लगाने के लिए भेजा। खोज-ढूँढकर वापिस आने पर उनलोगों ने बताया कि रेती पर एक टूटी हुई नाव पड़ी मिली है। आस-पास के मल्लाहों से पूछने पर यह भी मालूम हुआ है कि कल एक स्त्री तीन-चार वर्ष के एक बालक को लेकर नाव पर चढ़ी थी। उन लोगों ने जो कुछ बतलाया है, उससे इस बात में कोई सन्देह नहीं मालूम पड़ता है कि बालक कुमार ही थे। पगली डूबकर इधर बह आयी, लेकिन कुमार का क्या हुआ, इसका कुछ पता नहीं चल सका।"

अब समरसिंह के हृदय से कुमार के मिलने की आशा जाती रही। कुमार की मृत्यु हो गयी है, अब इस बारे में किसी को जरा भी सन्देह नहीं रह गया।

× × × ×

उसी दिन सन्ध्या के समय समरसिंह चित्तौर की अधिष्ठात्री

देवी के मन्दिर में अकेले खड़े-खड़े क्या कर रहे थे ? दोनों हाथ जोड़, आँखें मूँद-कर वे देवी की उपासना कर रहे थे। दुःख और निराशा ने उनके मुँह पर एक स्वर्गीय भाव प्रस्फुटित कर दिया था। आज वे सामान्य वेश में देवी की आराधना करने आये थे। उनके शरीर पर न राज-वस्त्र शोभित थे, न सिर पर मुकुट। मुकुट सामने जमीन पर रक्खा हुआ था। उपासना समाप्त हो जाने पर उन्होंने देवी को साष्टाङ्ग दण्डवत् किया, फिर हाथ में मुकुट लेकर खड़े हो गये। देवी को सम्बोधन करके बोले—"देवि चतुर्भुजे ! आज मैं तुम्हारे चरणों में इस मुकुट का परित्याग करता हूँ, आज से मैं मुकुट न पहनूँगा, राजकीय वस्त्र न पहनूँगा। आज से इस मस्तक पर जटा-भार वहन करूँगा। आज से मुझे कोई राजा न कहने पावेगा। भगवती ! मेरे मन का जो-कुछ व्यर्थ अहङ्कार है, वह सब तुम्हारे सामने आज मैं विसर्जन करता हूँ। किन्तु इस अहङ्कार के लिए तुमने मुझे जो दण्ड दिया है, बहुत दिनों की पाली हुई मेरी इच्छाओं का जिस प्रकार उन्मूलन किया है, उसे किसी तरह न भूल सकूँगा। हा, देवि ! तुम्हारी इच्छा ही पूर्ण हो, तुम्हारी आज्ञा पालन करने में ही यह हृदय समर्थ हो !" यह कह कर महाराज ने मुकुट देवी के चरणों पर डाल दिया और फिर एक बार देवी को प्रणाम करके मन्दिर से बाहर चले गये।

इसी दिन से उनका नाम योगीन्द्र पड़ा और वे आगे चलकर इसी नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुए।

---

[४]

यमुना से निकली हुई एक छोटी-सी नदी अलवर नगर के चरण धोती हुई बह गयी है। उपरोक्त घटना के सात साल बाद उसी नदी में एक नाव जा रही थी। रात उस वक्त बीत चुकी थी। पूर्व की ओर तरुण उषा की शोभा दीख पड़ने लगी थी। सबेरा होते देख नाव में से एक आदमी ने कहा—"माँझी, नाव यहीं किनारे लगाओ। मैं उतरूँगा।"

नाव हिलती-डुलती तीर पर आ-लगी। अधेड़ उम्र के एक आदमी एक बालिका को गोद में लेकर नीचे उतरे। उम्र उनकी चालीस से ज्यादा न होगी। पर डाढ़ी-मूँछ के बाल सफेद हो चले थे। मुँह पर कालिमा छायी हुई थी। यौवन के सुख ने इसी उम्र में इन्हें छोड़ दिया है। इनके बदन पर गेरुआ वस्त्र हैं। बालिका चार-पाँच साल की होगी। उसके थोड़े-थोड़े लटकते हुए बाल, गालों को छिपा कर कन्धे के इस-उस ओर फैले हुए हैं। उसके बालों के बीच से उसकी आँखें चमक रही हैं, जिनमें बुद्धि का प्रकाश फैल रहा है। ओठों पर सैशव की सरल मुस्कराहट है। उसके बदन पर क़ीमती कपड़े शोभित हो रहे हैं।

नाव पर से उतर कर पुरुष ने अपनी कपड़े की थैली में से निकाल कर कुछ रुपये माँझियों को दिये। रुपयों के साथ ही

कागज का एक टुकड़ा भी थैली में से निकल आया। पुरुष ने दो-तीन और टुकड़े निकाल कर सब को साथ-साथ नदी में फेंक दिया। तब, बालिका को गोद में लेकर वे नदी के किनारे बैठ रहे। बालिका ने कहा—"पिता जी! घर चलो।"

पिता ने गम्भीर स्वर में कहा—"शैल! तुम्हारे पिता के घर नहीं है।"

बालिका ने पूछा—"तब हम लोग रहेंगे कहाँ?"

"बन में!"

"तब चलो, हम लोग बन में चलें। पिता जी! बन कैसा होता है?"

इस दुखी अवस्था में भी बालिका की प्रसन्नता देखकर पुरुष के अधरों पर एक शुष्क हास्य दीख पड़ा। बालिका के प्रश्न का कुछ उत्तर न देकर उन्होंने केवल उसका मुँह चूम लिया और फिर चिन्ता में निमग्न हो गये। क्षणभर बाद बालिका ने फिर उँगली से इशारा करके कहा—"पिता जी! वह देखो पानी में कौन खड़ा होकर हम लोगों की ओर देख रहा है!" उन्होंने सिर उठा कर देखा, एक सन्यासी प्रातःकृत्य समाप्त करके धीरे-धीरे जल से बाहर निकल रहे हैं।

सन्यासी ने उन दोनों की बातें सुनी थीं। वे धीरे-धीरे इनके पास आये। सन्यासी को देखकर बालिका के पिता ने उठ कर प्रणाम किया। आशीर्वाद देकर सन्यासी ने कहा—"मेरे साथ आओ।" सन्यासी की इस बात से आश्चर्यित होकर बालिका

के पिता ने कारण पूछा। सन्यासी ने कहा—"इस समय कुछ न पूछो। फिर बतलाऊँगा।" इस बात से कन्या के पिता को और भी आश्चर्य हुआ, पर वे बालिका को और अपना सामान लेकर सन्यासी के साथ चल दिये।

उस जगह से थोड़ी ही दूर पर एक पहाड़ के ऊपर सन्यासी की कुटिया थी। सन्यासी उन लोगों को अपने साथ उसी जगह ले आये। पहाड़ी असभ्य जाति के सिवा इस ओर दूसरे लोग बहुत कम आते थे। हाँ, जिन्हें दिल्ली से अजमेर जाना होता था, वे जरूर कभी-कभी उस पहाड़ पर होकर गुजरते थे, क्योंकि यह रास्ता औरों से नजदीक पड़ता था।

सन्यासी को आते देख एक दस वर्ष का बालक हँसते हुए कुटी के बाहर निकल आया। बोला—"आज आप कितनी रात रहते नदी चले गये थे, फिर भी इतनी देर से लौटे? अब मैं आप को कभी अकेले न जाने दूँगा.....वे लोग कौन आ रहे हैं?"

सन्यासी ने कहा—"अच्छी बात है, अब मैं तुम्हें भी साथ ले चला करूँगा।...और, ये हमारे अतिथि हैं। यहीं रहेंगे।"

अतिथि हैं, यह जान कर बालक बड़ा खुश हुआ। वह झट-पट अतिथि-सेवा की व्यवस्था में जा-लगा। कुटी में आकर बालिका के पिता ने पूछा—"आप मुझे यहाँ क्यों ले आये, अब बताइये?"

"पहले तुम बताओ कि कहाँ से आ रहे हो?"

"माफ़ कीजिए, यह मैं नहीं बताना चाहता!"

"सब जान-बूझ कर, केवल तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए मैंने यह बात पूछी थी। अच्छा तो तुमने छद्मवेश में रहने के लिए देश-त्याग किया है ?"

"आपने यह कैसे जाना ?"

"इस बालिका के साथ तुम्हारी जो बात हुई, वह मैंने सुनी है, उसी को सुन कर मेरे मन में यह धारणा हुई है। हाय ! मेरी भी एक दिन यही दशा हुई थी·····लेकिन जाने दो उन बातों को—यहाँ मैं तुम्हें किस लिए लाया, बताऊँ ? तुम छद्मवेश में रहना चाहते हो ?"

"हाँ !"

"यह अत्यन्त निर्जन कुटी है। यहाँ तुम निःशङ्क होकर रह सकोगे। इसी लिए मैं तुम्हें यहाँ ले आया हूँ।"

बालिका के पिता ने दुखी होकर कहा—"आप हमें आश्रय-हीन समझ कर आश्रय देना चाहते हैं, पर मैं यहाँ नहीं रह सकूँगा ! आपको असुविधा होगी।

सन्यासी ने समझा कि यह बालिका के पिता किसी का अनुग्रह नहीं चाहते। उन्होंने कहा—"मेरे लिए तुम फिक्र न करो, मुझे असुविधा न होगी और मेरी बात न मानोगे तो मेरे मन को कष्ट होगा।" तब बालिका के पिता सन्यासी का आग्रह न टाल सके और वहीं रहने को राजी होगये।

भोजन आदि से निबट कर बालक बालिका को अपने खेलने की चीजें दिखलाने लगा। बालिका ने कहा—"क्यों भई,

तुम्हारे घर के नीचे नदी क्यों नहीं है ? हमारा घर तो ऐसा नहीं था।"

"तब तुम्हारा घर कैसा था ?"

"मेरा घर तो नदी के ऊपर था। नदी का पानी उसके चारों ओर ढलमलाया करता था पिता जी उस घर को नाव कहते हैं। वह घर चारों ओर घूमता रहता है।"

"तुम कभी हमारे-जैसे घर में नहीं रहीं ?"

"नहीं !"

"ऐसा घर देखा था ?"

"देखा क्यों नहीं ? अपने घर में बैठे-बैठे हमने नदी के किनारे कितने इससे भी बड़े-बड़े घर देखे हैं।"

"उन घरों को देखने का तुम्हारा जी नहीं होता था ?"

"होता क्यों नहीं था ? मैं पिता जी से कहती थी कि मैं उन्हें देखने जाऊँगी।"

"उनमें रहने को जी करता था ?"

"क्यों जी करे ?"

"तो तुम अपना घर क्यों छोड़ आयीं ?"

"पिता जी आये तो मैं भी आयी !"

बालक ने कहा—"तो हमारी कुटी में रहने को तुम्हारा जी नहीं होता ?"

"पिता जी जहाँ रहते हैं, हमें वहीं रहना अच्छा लगता है !"

"तुम्हारे पिता जी चले जायँ, तो तुम भी चली जाओगी ?"

"हाँ !"

यही बातें करते-करते शैलबाला का हाथ पकड़ कर दिलीप कुटी के बाहर निकल आया। कुटी से बाहर आते ही बालिका ने एक मोर देखकर कहा—"अहा ! कैसी अच्छी चिड़िया है—मैं पकड़ लाऊं !" बालिका मोर पकड़ने दौड़ी, मोर भी दौड़ चला दिलीप ने कहा—"तुम ठैरो, मैं मोर ला देता हूँ" पर बालिका दौड़ती ही गयी, थोड़ी दूर जाने पर एक पत्थर से ठोकर खाकर वह गिरते-गिरते बची, दिलीप ने दौड़कर उसे संभाल लिया। कहा—"मोर लोगी ?" और उसका नाम लेकर पुकारते ही मोर पास चला आया। बालिका ने अभिमान करके कहा—"मेरे पास से भाग गया, तुम्हारे पास चला आया—मैं नहीं लेती।" दिलीप ने दुःखी होकर कहा—"तुम नयी हो, तुम्हें पहिचानता नहीं—अब न जायगा।" दिलीप को दुखी होते देखकर शैलबाला ने कहा—"अच्छा मैं इसे लिये लेती हूँ।"

तब दिलीप ने कहा—"हमारे पास और क्या-क्या है चलो दिखावें।" बालिका दिलीप के साथ वहाँ गई, जहाँ उसके घोड़े हरिण आदि थे। घोड़ा देखकर बालिका ने कहा—"तुम इतने बड़े घोड़े से कैसे खेलते हो ?"

दिलीप ने कहा—"मैं इस पर चढ़ता हूँ।"

आश्चर्य से बालिका ने कहा—"कैसे भला ? चढ़ो, मैं देखूं।"

घोड़े पर चढ़कर दिलीप ने घोड़ा दौड़ा दिया। बालिका खुशी के मारे तालियाँ बजाने लगी और अपने पिता के पास जाकर

कहने लगी—"पिताजी ! दिलीप घोड़े पर चढ़ते हैं। तुम क्यों नहीं चढ़ते ? मैं तो घोड़े पर चढ़ूँगी।" वह फिर दिलीप के पास लौट आयी और कहने लगी—"मुझे भी घोड़े पर चढ़ा दो।" दिलीप ने बालिका को घोड़े पर बैठा दिया और एक हाथ से लगाम तथा एक हाथ से उसे पकड़ कर चलने लगे। कुटी के द्वार पर आकर बालिका ने कहा—"पिताजी ! देखो, मैं दिलीप की तरह घोड़े पर चढ़ी हूँ।" सन्यासी और बालिका के पिता हँसने लगे।

बालिका के पिता तीन-चार वर्ष इसी कुटी में रहे।

---

[५]

एक तो सन्ध्या का समय, दूसरे आसमान घने काले बादलों से ढका हुआ—चारों ओर घोर अँधेरा छाया हुआ था। रह-रह कर बिजली चमक जाती थी। मालूम होता था, अभी जोर से वर्षा आने वाली है। कुटी में दीपक का प्रकाश उजाला कर रहा है। बच्चे दोनों दीपक के पास बैठकर खेल रहे हैं। सन्यासी और बालिका के पिता खिड़की के पास बैठकर गपशप कर रहे हैं।

सन्यासी ने कहा—"देखते हो, कैसे बादल घिर आये हैं ! मालूम पड़ता है, अभी पानी बरसेगा।"

बालिका के पिता बोले—"हाँ, पानी बरस जाने पर बादल फट जायँगे, पर हमारे दुःख के बादल कभी दूर न होंगे।"

"ऐसी बात नहीं है। दुःख भी बादलों की तरह ही अस्थिर हैं। इस लोक में न सही, उस लोक में तुम सुखी होओगे।"

इन लोगों के बात करते-करते ही झमाझम वर्षा होने लगी, बादल गरजने लगे, बिजली चमकने लगी। उस समय तिमिराच्छन्न पृथिवी, मेघावृत आकाश और अविश्रान्त वृष्टिधारा बहुत भयानक जान पड़ने लगी।

पानी कुटी में भरने लगा था, इसलिए दरवाजा बन्द कर दिया गया, लेकिन थोड़ी देर बाद दरवाजे पर किसी के थपथपाने की आहट मिली। सन्यासी ने अन्दर ही से पूछा—"कौन है?"

उत्तर मिला—"मैं राही हूँ। वर्षा के कारण आगे नहीं जा सकता। रात भर के लिये आश्रय चाहता हूँ।"

सन्यासी दरवाजा खोलकर एक वृद्ध पुरुष को अन्दर ले आये। वह जाड़े से काँप रहा था और पीला पड़ गया था। इसके सारे कपड़े भीग गये थे। सन्यासी ने उसे दूसरे कपड़े दिये तब सूखे कपड़े बदलकर वह आग से शरीर सेंकने लगा।

बालिका के पिता उसको अन्दर आते देखकर ही चौंके और चादर से आँख नाक के बिना सारा शरीर ढककर एक कोने में जा बैठे। नवागन्तुक सन्यासी के साथ बातचीत करने लगा। सन्यासी ने पूछा—"इस समय तुम कहाँ जा रहे हो?"

"अपने स्वामी चन्द्रपति के पास मैं दिल्ली जा रहा हूँ।"

"दूसरे अच्छे रास्तों के रहते तुम इस रास्ते क्यों जा रहे हो?"

"जल्दी पहुँचने के लिये।"

"जल्दी पहुँचने की ऐसी जरूरत क्या थी ?"

"दुःख की बात क्या बतलाऊँ, स्वामीका विवाह होने जारहा है।"

सन्यासी ने आश्चर्य से कहा—"विवाह होगा, यह तो सुख की बात है। दुःख क्यों कहते हो ?"

"यह आप कैसे समझेंगे ? न-जाने कहाँ की लड़की, अब आकर हमारे ऊपर हुकूमत करेगी। यह भी न समझेगी कि हम कितने दिन के पुराने नौकर हैं ! यह क्या खुशी की बात है ?"

"तुम्हारे स्वामी तो अजमेर में रहते हैं न ? फिर शादी दिल्ली में क्यों हो रही है ?"

दिल्लीश्वर की इच्छा ! वे हमारे स्वामी को बहुत मानते हैं। वे ही लड़की पसन्द करके बड़ी धूमधाम से शादी करा रहे हैं। सुना है, लड़की बड़ी खूबसूरत है, चौदह-पन्द्रह साल की है। हमारे स्वामी तो उसकी सुन्दरता देखकर सब कुछ भूल गये हैं। अब हमलोगों का मान-संभ्रम सब गया !

"धूमधाम कैसी हो रही है ?"

"खूब ! तमाम राजे-महाराजों को न्योता दिया गया है, बहुतेरे आ-भी गये हैं, केवल जयचन्द नहीं आये। समरसिंह सब रानियों को लेकर आये हैं, लेकिन कमलकुमारी नहीं आयीं।"

"क्यों ?"

"हाय ! जबसे उनके पुत्र किरणसिंह जल में डूब गये, तबसे वे कहीं नहीं आतीं-जातीं; तभी से वे जीती हुई भी मरी के समान हो रही हैं।"

"अरे समरसिंह के पुत्र जल में डूब गये ? यह कैसे ?"

आगन्तुक किरण के डूबने का वृत्तान्त कहने लगा। सन्यासी चुपचाप सुनते रहें। अन्त में आगन्तुक ने कहा—"उन बातों को याद करके बड़ा कष्ट होता है। अब एक नयी बात सुनिए, दिल्लीश्वर इस बार हमारे स्वामी को कवि की उपाधि देंगे।"

"तुम्हारे स्वामी कवि हैं ?"

"आपको मालूम नहीं ? वे तो दूर-दूर तक कवि के नाम से मशहूर हैं, अद्वितीय कवि हैं !"

"मुझे तो नहीं मालूम।"

"अब उनको सभी लोग कवि के नाम से जानेंगे। अबकी वे कविचन्द्र नाम धारण करेंगे।"

सन्यासी ने इस बात को बीचमें ही रोककर पूछा—"अच्छा, सभी राजे तो आये, जयचन्द क्यों नहीं आये ? जयचन्द और दिल्लीश्वर तो रिश्ते में भाई होते हैं न ?"

"कारण दूसरा क्या, ईर्ष्या है। मृत दिल्लीश्वर ने राज्य उनको न देकर पृथ्वीराज को दिया है, उसी से जयचन्द जलते हैं। सुना है, जयचन्द के चाचा उन्हें समझाने गये थे कि ईर्ष्या के वश होकर भाई से द्रोह नहीं करना चाहिये, उसी दिन से एक-दूसरे-का मुँह देखना तक बन्द होगया। हाय रे ! चोर कहीं धर्म का उपदेश सुनता है !!"

आगन्तुक यह कहकर हँसने लगा। सहसा हँसना बन्द करके उसने पूछा—"यह कोने में कौन बैठा है ?"

"वे मेरे शिष्य हैं।"

"और ये दोनों बच्चे ?"

"बच्चा मेरा है, लड़की उनकी है।"

"वाः, खूब तो है !"

इसी समय बाहर फिर कुछ शोर सुन पड़ा। सन्यासी ने कहा—"मालूम होता है, आज रातभर सोना न हो सकेगा।" यही कहकर दरवाज़ा खोलने गये। दरवाज़ा खोलकर और झटपट उसे फिर बन्द कर दिया। आगन्तुक ने पूछा—"क्या बात है ?"

सन्यासी ने कहा—"बाघ है।"

बाघ का नाम सुनकर दिलीप को अपने हिरण और घोड़ों की याद आयी। उसने कहा—"पिता जी ! बाघ कहीं हमारे घुड़साल पर आक्रमण न करे ! चलो, उसे हम मार डालें !"

सन्यासी तैयार हो गये। तलवार लेकर वे दोनों बाहर निकले। आगन्तुक भी उनके साथ ही बाहर गया।

इधर बालिका के पिता घोर चिन्ता में डूबे हुए थे। वे मन-ही-मन सोचने लगे—"सबेरा होने पर यह आदमी मुझे पहिचान लेगा। कैसे मैं इसे मुँह दिखाऊँगा ? यदि यह लड़की न होती तो इस अपमानित जीवन का भार क्यों ढोना पड़ता ? मैं तेजसिंह हूँ, हाय ! आज मुझे इस कुटी में छिपकर रहना पड़ रहा है।... नहीं, यह कभी न होगा। मैं आज रात को ही लड़की को लेकर कहीं चला जाऊँगा।"

बाघ को मारकर जब दिलीप वापस लौटे तो बहुत रात हो चुकी थी। सबलोग चुपचाप सो गये। दूसरे दिन सबेरे उठने पर बालिका और उसके पिता को किसी ने नहीं देख पाया।

चार वर्ष और बीत गये। इस चौथे साल में कान्यकुब्जाधिपति महाराज जयचन्द के साथ दिल्लीश्वर पृथ्वीराज की एक अच्छी-खासी लड़ाई हुई। बात यह हुई कि महाराज जयचन्द्र ने राज-चक्रवर्ती उपाधि धारण करने के लिए एक अश्वमेध यज्ञ किया। उसमें सब राजे तो शामिल हुए, सिर्फ़ दिल्ली और अजमेर के राजा पृथ्वीराज और चित्तौड़ के अधिपति समरसिंह उस यज्ञ में शामिल न हुए। इससे कुढ़कर, पृथ्वीराज का अपमान करने के लिये जयचन्द्र ने यज्ञशाला के दरवाज़े पर, द्वारपाल की जगह, पृथ्वीराज की एक पत्थर की मूर्ति बनवाकर रखवा दी। इस अपमान से चिढ़कर पृथ्वीराज ने क़न्नौज पर चढ़ाई कर दी। यद्यपि लड़ाई में जीत उन्हीं की हुई, पर बहुतेरे सेनापति और असंख्य सिपाहियों का इस लड़ाई में प्राण-नाश हुआ। जिस दिन इस लड़ाई में पृथ्वीराज की विजय हुई, उसी दिन, रणक्षेत्र सूना हो जाने के बाद, एक आदमी अकेला घोड़े पर चला जा रहा था। यह पृथ्वीराज के परम मित्र कविचन्द्र थे। कविचन्द्र केवल कवि ही नहीं, एक वीर योद्धा भी थे। इस समय रण-परिच्छेद से उनका शरीर शोभित हो रहा था। सहसा किसी बालिका के रोने की ध्वनि सुनकर वे थमक गये।

देखा, एक बालिका एक मृत-पुरुष के पास बैठकर रो रही है। कविचन्द्र के मन में बड़ी दया उपजी। वे मन-ही-मन सोचने लगे कि शायद इस बालिका के और कोई नहीं है। हाय! अब इसका असहाय जीवन कैसे बीतेगा? यही सब सोचते-सोचते वे बालिका के पास चले आये। उन्होंने पूछा—"तुम किसलिए रोती हो? ये तुम्हारे कौन हैं?"

बालिका ने कहा—"पिता।"

शैलबाला के पिता ने सन्यासी की कुटी छोड़कर पहले तो दो-तीन वर्ष तक इधर-उधर भ्रमण किया, अन्त में क़न्नौज के समीप आकर एक पहाड़ पर रहने लगे थे, मानो मृत्यु ही उन्हें खींच लायी थी। आज वे रणक्षेत्र में मृत्युशय्या पर सो रहे हैं। उनकी आँखें अधखुली हैं, मुँह पर विषाद का भाव छाया हुआ है, मानो मरते-मरते भी उनके मन में एक वेदना छिपी रह गयी। उस वेदना का भाव अब भी उनके मुँह पर परिस्फुटित था।

कविचन्द्र ने पूछा—"इस डरावनी जगह में आते तुम्हें डर नहीं लगता?"

बालिका बोली—"डर? जिसे हम प्यार करते हैं, उसके पास आते क्या डर लगता है?"

"तुम्हें तुम्हारे घरवालों ने यहाँ अकेले आने कैसे दिया?"

"मेरे घर में और कोई नहीं है।"

"तुम्हारे और कोई नहीं है?"

"नहीं।"

"तुमलोग रहते कहाँ थे ?"

"इस पहाड़ पर।" बालिका ने इशारे से बतलाया।

"इतनी जल्दी तुम्हें इनके मरने की खबर किसने दी ?"

"मैंने पहाड़ पर से खुद ही इनको घोड़े पर से गिरते देखा। हाय! यदि ये मुझ से कहकर आते तो मैं भी इनके साथ ही आती।" कहकर बालिका और जोर से रोने लगी।

कवि ने पूछा—"ये तुमसे बताकर युद्ध में नहीं आये थे ?"

"न।"

"तो तुम्हें मालूम कैसे हुआ कि ये यहाँ आये हैं और तुम यही कैसे जान सकीं कि आज लड़ाई होने वाली है ?"

"लड़ाई में आने की बात इन्होंने मुझसे नहीं कही, पर यह कहते थे कि आज लड़ाई होगी। इसके अलावा कई दिनों से मैं इनका भाव-परिवर्तन देख रही थी। मुझे देखते ही रोने लगते थे और हमेशा उदास रहते थे। कल मुझे एक कपड़े की थैली देकर कहने लगे—"बेटी! मेरा अब कुछ ठीक नहीं है। मैं बहुत दिन तक न बचूँगा। मेरे बाद तुम्हारी न जाने क्या दशा होगी? तुम्हारे लिये यह थोड़ा रुपया रक्खे जाता हूँ, जबतक किसी भले आदमी का आश्रय तुम्हें न मिल जाय, इससे अपनी गुजर करना। किसी बुरे आदमी के बहकावे में आकर उसका सङ्ग न करना। जबतक विवाह न हो जाय, किसी भले आदमी के आश्रय में रहना।" यही कहकर वे रोने लगे, मैं भी रोने लगी। सबेरे उठकर देखा, वे घर में नहीं थे। तब मैं पहाड़ पर चढ़कर देखने

लगी—याद आया कि आज लड़ाई होने वाली है। आख़िर वही हुआ जिसकी शङ्का थी।

इसके आगे बालिका से न बोला गया, उसका गला रुँध गया।

कवि ने पूछा—"अगर तुम्हारे पिता को तुम्हारे लिये इतनी चिन्ता थी तो वे लड़ाई में आये ही क्यों?"

"देश में रहकर देश के लिए युद्ध न करना, वे अधर्म समझते थे। मेरे लिए क्या वे अधर्म करते?"

कवि ने बालिका का विशेष परिचय जानना चाहा, पर वह कुछ भी न बतला सकी। केवल पिता का और अपना नाम उस ने बतलाया। कवि ने पूछा—"अब तुम कहाँ और कैसे रहोगी?"

"कोई उपाय न सूझेगा तो पिता का ही अनुसरण करूँगी।"

"मेरे साथ चलोगी?"

थोड़ी देर सोचकर बालिका ने पूछा—"कहाँ?"

"मेरे घर।"

"वहाँ कौन है?"

"वहाँ तुमसे बड़ी एक युवती हैं, वे तुझे बहन की तरह प्यार करेंगी।

"तब चलूँगी। एक और आदमी मुझे बहन की तरह प्यार करता था। मैं वह प्यार फिर से पाना चाहती हूँ।"

"वह कौन था?"

"वह एक बालक था। हम लोग कुछ दिनों तक उसकी कुटी में रहे थे।"

"वे कहाँ रहते थे ?"

"बहुत दूर—देश का नाम मैं नहीं जानती, क्योंकि उस समय मैं बहुत छोटी थी। बहुत दिन हुए, हम लोग यहाँ से चले आये। दिलीप ने कहा था, हमसे बिना कहे कहीं न जाना, पर आते समय मैं उससे कुछ भी न कह सकी।"

इन बातों को यहीं छोड़कर कवि बालिका को लेकर पृथ्वीराज के डेरे की ओर चले। चलते समय बालिका पिता के लिए बहुत रोयी

चलते-चलते कवि ने पूछा—"तुम्हारी उम्र क्या होगी।"

"पिता जी कहते थे, मैंने तेरहवाँ साल पूरा किया है ?"

× × ×

दूसरे दिन पृथ्वीराज की सेना ने दिल्ली के लिए प्रस्थान किया पर कविचन्द्र दिल्ली न जाकर अजमेर के लिए प्रस्थित हुए। पृथ्वीराज के दिल्ली चले जाने पर भी वे जन्मभूमि में ही रहना ज़्यादा पसन्द करते थे। किसी खास काम पड़ने पर दिल्ली आकर फिर वापस लौट आया करते थे।

घर पहुँचते ही कविचन्द्र ने शैलबाला को अपनी पत्नी प्रभावती को सौंप दिया। वे शैल को पाकर बहुत खुश हुईं। कविकी गुलाब नाम की एक बहन थीं, जो हमेशा राज-कन्या के साथ दिल्ली में रहती थीं। इससे प्रभावती को हमेशा अकेली ही रहना पड़ता था। अब शैलबाला को पाकर वे मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुईं।

[७]

अजमेर के एक किनारे बहने वाली मनसा नदी धीर-मन्थर गति से बहती जा रही थी। नदी के किनारे, एक बाग़ में प्रभावती और शैलबाला चन्द्र-ज्योत्स्ना की शोभा देख रही थीं। उस समय ज्योत्स्ना-विधौत तरंग-मालाएँ नाचती-नाचती सैकत-पुलिन पर ढली पड़ती थीं। सान्ध्य-समीरण-कम्पित झाऊ-वृक्षों का मृदु मर्मर निनाद, नदी-कल्लोल के साथ मिलकर बड़ा सुहावना मालूम हो रहा था। माँ की गोद में पड़े हुए शिशु की तरह नदी के वक्षःस्थल पर नौकाएँ हिल-डुलकर तरंग-मालाओं के साथ क्रीड़ा कर रहीं थीं। वे दोनों जिस संगमर्मर के आसन पर बैठी हुई थीं, उसके पासवाले झाऊ-वृक्ष से उलझी हुई एक लता ऊपर झूल रही थी। शैलबाला हाथ फैलाकर पत्तियों के सहित फूल चुन रही और उससे प्रभावती को सजा रही थी। अब यह शैलबाला पहले की शैलबाला नहीं रह गई—अब यह एक अधखिली कली की तरह अपने सौन्दर्य और सुवास से जगत् को आमोदित कर रही थी। फूल चुन-चुनकर उसने प्रभावती का जूड़ा सजा दिया, फिर वह गहने बनाने बैठी। फूलों के गहनों से प्रभावती को भली भाँति सजाकर उसके मनको सन्तोष हुआ। बोली—"अब ठीक

हुआ। आज के पहले मैं तुम को किसी दिन इस तरह नहीं सजा सकी थी।"

उसकी बात सुनकर प्रभावती ने कहा—"मैं तो तुम्हारे मारे परेशान हो गयी! यह भी क्या रोज-रोज का सजाना; ठैरो, आज मैं भी तुम्हें सजाये बिना न मानूँगी।"

शैल ने हँसकर कहा—"मैं किसके लिये सजूँगी? कौन देखेगा"

"क्यों, मैं?"

"नहीं, यह न होगा, मैं तुम्हें सजाऊँगी और देखूँगी।"

"नहीं भाई, तुम ऐसा क्यों करती हो? खुद सजती नहीं और मुझे सजाती हो।

"कहूँ? नहीं, न कहूँगी।"

"मेरे सर की क़सम बताओ।"

शैलबाला ने असली बात छिपाने के लिए कहा—"कहूँ? अच्छा, देखो, इतने दिन बीत गये, मेरा ब्याह नहीं हुआ, इसी से दुःख के मारे·····"

"भई, तुमसे जीतना तो मुश्किल है!"

"लो, नाराज़ हो गयीं। अच्छा, अब ठीक-ठीक कहती हूँ। पहले कितनी बार जो-कुछ कहा है, वह भूल गयीं?"

"हाँ, सब भूल गयी—फिर कहो।"

"बचपन में दिलीप मुझे इसी प्रकार सजाकर देखता था, अब होता तो मैं भी उसे सजाती। उसे नहीं सजा सकती, इसीलिए तुम्हें सजाती हूँ।

"अच्छा, तो मैं तुम्हारा दिलीप हूँ ! जान पड़ता है, तुम उसे भूल न सकोगी। बचपन का प्रेम क्या इतने दिन तक ठैरता है ? लेकिन भई, तुमने तो यह बात बताई नहीं।"

"वह मुझे सजाता था, इतना तो कहा था !"

"हाँ, इतना ही कहा था।"

"तो और सब तुम्हें स्वयं समझ लेना चाहिए ! मैं होती तो तुम्हें कुछ न कहना पड़ता !"

"तुम्हारे साथ मेरी क्या तुलना है ! लेकिन कुछ भी हो, दिलीप का ख़याल तुम्हें मन से निकाल देना चाहिए। वह न जाने कौन है, कहाँ का है, उसके लिए मन को इतना दुखी रखना क्या उचित है ? एक तो उसका पता नहीं है, अगर पता भी लगे तो मैं उसका ब्याह तुम्हारे साथ न होने दूँ। तुम तो राजरानी होने लायक़ हो।"

शैल ने कहा—"मैं समझती हूँ, तुम यह बात किसलिए कहती हो, लेकिन जिस कारण से दिलीप सुपात्री पाने के अयोग्य है, उसी कारण से क्या मैं भी सत्पात्र पाने से वञ्चित नहीं रह सकती?"

प्रभावती ने शैल की मन की व्यथा समझी और उससे पूछने लगी कि उसे अपने जन्म आदि के बारे में क्या कुछ भी मालूम नहीं है ? इसी समय एक ओर से चन्द्र कवि आते दीख पड़े। उनका मुखमण्डल चिन्ता से घिरा हुआ था। पति की ओर देखकर प्रभावती ने कहा—"तुम्हारा मुँह देखकर मुझे बड़ी चिन्ता होरही है। मालूम पड़ता है मानो तुम कोई अशुभ सम्वाद देने आये हो।"

कवि ने कहा—"सचमुच ही मैं अशुभ खबर देने आया हूँ।"

"क्या ?"

"कल दिल्ली जाना होगा।"

"क्यों ?"

"महाराज ने लिखा है कि यवन फिर दिल्ली पर चढ़ाई करने आ रहे हैं।"

थोड़ी देर चुप रहकर उन्होंने फिर कहा—"मैं कल ही जाऊँगा अब देर करने का समय नहीं है।"

प्रभावती अबतक चुपचुप रो रही थीं। अब आँसू पोंछती हुई बोलीं—"तुम स्वदेश की रक्षा के लिए जा रहे हो, मैं तुम्हें रोकूँगी नहीं। ईश्वर करे, इस बार भी तुम विजयी होकर लौट आओ। तुम्हारे साथ कौन जायगा ?"

"बूढ़े अनाथ को ले जाऊँगा।"

यही बातें करते हुए वे बगीचे से घर की ओर चले। शैल-बाला ने प्रभावती से पूछा—"कवि और बार लड़ाई में जाते थे, तब तो कभी तुम इतनी कातर न होती थीं, इस बार क्यों हो रही हो ?"

प्रभावती ने कहा—"न जाने क्यों इस बार मेरे मन में बड़ा अशकुन हो रहा है।"

———

[८]

आधीरात का समय है। अँधेरे से ढकी हुई धरती निस्तब्ध है। वृक्षों के पत्ते-पत्ते में जुगनू चमक रहे हैं। झिल्ली की झन्कार रात्रि के सन्नाटे को विरक्त कर रही है। सारा संसार सोया हुआ है। लेकिन दिल्ली के राज-महल के अन्तःपुर के एक कमरे में राजकन्या उषावती और मन्त्री-पुत्र विजयसिंह बैठे हुए हैं। इस आधी रात को जब किसी की आहट नहीं मिल रही है, सभी सोये हुए हैं, ऐसे समय इस निर्जन प्रकोष्ठ में एक युवती कन्या पर-पुरुष के साथ क्यों बैठी है ?

राजकन्या बाएँ हाथ पर मस्तक रक्खे हुए स्वर्ण मण्डित पलँग पर बैठी हुई हैं, विजयसिंह नीचे कमख़ाब जड़ी शैया पर बैठे हैं। राजकन्या षोड़शवर्षीया युवती हैं। वे सुन्दरी हैं—ऐसी कि उनके समान सुन्दर स्त्रियाँ कम देखी जाती हैं। उनका सौन्दर्य पूर्णिमा की चन्द्र-ज्योत्स्ना के समान हँस रहा था। जिस प्रकार ज्योत्स्ना जिस वस्तु पर पड़ती है, वही खिलखिला उठता है; उसी प्रकार इनकी रूपराशि जिसके साथ मिलती है, वह भी हास्यमय हो जाता है। उनके अप्सरा विनिन्दित मुख-मण्डल पर सघन-कृष्ण केश-राशि ऐसी शोभित होती थी, जैसे शुभ चन्द्र-ज्योत्स्ना के साथ मेघ जड़ा हुआ हो ! उनके रूप की आभा से वस्त्रालङ्कार

यहाँ तक कि सारा घर हास्यमय हो रहा है, पर उनके मुँह पर हँसी नहीं है। यह विरक्ति क्या स्थायी है या अभी दूर हो जायगा?

दोनों ही चुप हैं, किसी के मुँह से कोई बात नहीं निकलती क्षणभर बाद उषावती मौन भंग करके पहले बोलीं। वीणा बज उठी। वह स्वर जहाँ तक पहुँचा, सब कुछ हास्यमय हो उठा। उन्होंने कहा—"क्या कहने आये थे? कहो! देखते नहीं हो, हम लोग कैसी अवस्था में बैठे हैं? यदि कोई आ जाय, क्या सोचेगा? देर होने से विपत्ति की आशंका है, झटपट कह कर तुम जाओ।

विजयसिंह ने कहा—"यवन फिर आ रहे हैं—सुना है?"

विजय को कुल मिलाकर रूपवान् कहा जा सकता है। उनकी दृष्टि अन्तर्भेदी होने पर भी साधारणतः वे अत्यन्त नम्र और भले आदमी जान पड़ते हैं, लेकिन जो लोग दूरदर्शी हैं, वे देखते ही कह सकते हैं कि ये गुण उनके जन्मजात नहीं, बल्कि दिखावटी हैं। लेकिन ये अपने इस व्यवहार में इतने दक्ष और पटु हैं कि जल्दी इन्हें कोई पहचान नहीं सकता। उनकी बात सुनकर राजकन्या ने कहा—"तुम यदि सिर्फ़ यही बात कहने के लिए आये हो तो चले जाओ। यह मैं बहुत पहले सुन चुकी हूँ।"

विजयसिंह ने कहा—"नहीं, मैं सिर्फ़ यही बात कहने के लिए नहीं आया। और बात है।"

"क्या?"

"यदि इस बार महाराज पृथ्वीराज पराजित हों तो तुम क्या करोगी?"

उषावती ने क्रुद्ध होकर कहा—"क्या ? पिता पराजित होंगे? तुम्हें मालूम नहीं है, पिछली बार जयचन्द को पराजित करके आने के बाद बची हुई थोड़ीसी सेना के द्वारा ही यवनों को दिल्ली के बाहर निकाल दिया था ?"

विजयसिंह ने जरा लज्जित होकर कहा—"ईश्वर करे ऐसा ही हो, लेकिन यदि इसके विपरीत हुआ तो क्या करोगी ?"

"यह अभी कैसे कह सकती हूँ ? पिता जी की जो अवस्था होगी, वही हम लोगों की भी होगी।"

"तुम स्त्री हो, राजकन्या हो, तुम कष्ट कैसे सह सकोगी ?"

"तुम कायर हो, इसीसे ऐसी बात कहते हो। पिछली बार यवनों के आक्रमण के समय किस तरह जान बचाकर भागे थे, याद है ? यद्यपि मैं पुरुष नहीं हूँ, फिर भी तुम से साहसी हूँ। यह न समझना कि मैं कष्ट न सह सकूँगी। यदि इस समय कोई आकर कहे कि तुम्हारी मृत्यु होने से देश की रक्षा होती है, तो देखना उसी क्षण मैं मर सकती हूँ कि नहीं। तुम्हारी तरह मैं देश की अपेक्षा अपने प्राणों को अधिक मूल्यवान नहीं समझती।"

इन बातों ने तीखे तीरों की तरह विजय का हृदय बींध दिया रणक्षेत्र से उसके भागने की बात और कोई न जानता था, सिर्फ राजकन्या को ही उसने यह बात बतलाई थी, लेकिन जिस लाभ की आशा से उसने यह बात कही थी, वह तो हुआ नहीं बल्कि उलटा परिणाम हुआ। मन-ही-मन वह क्रुद्ध हुआ, लेकिन यह भाव छिपाकर उसने कहा—"तुम हमेशा यही बात कह कर मेरा

जी दुखाती हो। तुम जो कहती हो, वह ठीक नहीं है। मैं स्वदेश की अपेक्षा अपने प्राणों को नहीं, बल्कि तुम्हें प्यार करता हूँ, इसीलिए मैं मृत्युमुख से भाग आया था, मर जाने पर फिर कभी तुम्हारा यह मुख-चन्द्र न देख सकूँगा, इसी भय से भाग आया था। भागने पर कायर के रूप में सब के सम्मुख घृणा-स्पद समझा जाऊँगा, यह जान-सुनकर भी मैं तुम्हारे ही प्रेम के लिए भागा था। मैंने तुम्हारे ही चरणों के नीचे प्राणाधिक क्षत्रिय-तेज को विसर्जन कर दिया था। आज तुम्हारे ही मुँह से मुझे ये निर्दय वाक्य सुनने पड़े? हाय! यदि मैं जानता कि तुम मुझ से इस प्रकार घृणा करोगी, तो मृत्यु को ही अधिक सुखकर जानकर सुखपूर्वक प्राण त्याग कर देता।

इन बातों को सुनकर उषावती ने अनुभव किया कि उसकी बातें उचित नहीं हुईं। बोली—"अच्छा, यदि मेरी बातों से तुम्हें इतना कष्ट होता है, तो मैं फिर कभी तुमसे ऐसी बात न कहूँगी; लेकिन तुमने जो कहा, वह झूठ नहीं है—कायर की तरह भाग आने की अपेक्षा यदि तुमने रण-क्षेत्र में प्राण-विसर्जन किया होता तो मैं तुम्हें अधिक प्यार कर सकती। मेरे भाई नहीं हैं, तुम्हारी मृत्यु के बाद तुम्हें अपना वीर भाई समझकर तुम्हारे लिये मैं रोती—मुझे उस रोने में भी सुख मिलता। मैं गर्व से कह सकती कि देश की रक्षा के लिए मेरे भाई ने अपना प्राण विसर्जन किया है। पर, अब इन बातों को कहकर तुम्हें और लज्जित न करूँगी। जान पड़ता है, इसबार तुम लड़ाई में अपनी वीरता दिखलाओगे।"

"यदि मैं तुम्हारे मुँह से सुनलूँ कि इसबार वीरता दिखाने से तुम्हारा प्रेम पा सकूँगा तो मैं अभी प्राण देने को तैयार हूँ। बचपन से हम-दोनों का पालन-पोषण साथ-साथ हुआ है, पर आजतक तुमने कभी यह नहीं कहा कि तुम मुझे प्यार करती हो, और मैं तुम्हारे लिए क्या नहीं करने को तैयार हूँ!"

"मैं तुम्हें प्यार नहीं करती, यह कहकर तुम मुझपर व्यर्थ लाञ्छन लगाते हो। मैंने कई बार तुम से कहा है कि मैं बड़े भाई की तरह तुम्हें प्यार करती हूँ और आज फिर यही कहती हूँ।"

"तुम्हारे प्यार की सीमा क्या हमेशा एक-सी ही रहेगी? मुझे व्यर्थ क्यों सताती हो? इसबार यदि युद्ध में वीरता दिखाऊँ तो कहो, तुम हमारी होओगी कि नहीं?"

"मैंने कईबार तुमसे कहा है कि यह बात जबान पर न लाओ, उस रूप में मैं कभी तुम्हें प्यार न करूँगी।"

"क्यों? क्या तुम और किसी को प्यार करती हो?"

"यह जानकर तुम क्या करोगे?"

"मुझे प्यार करो यह कहकर तुम्हें परेशान न करूँगा।"

विजयसिंह साँस रोककर उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे। उषावती ने कहा—"हाँ, मैं प्यार करती हूँ।" इस एक वाक्य ने विजयसिंह की इतने दिनों की आशा को निर्मूल कर दिया। उन्होंने काँपती हुई आवाज से पूछा—"किसको?" इस प्रश्न से उषावती के मुँह पर विरक्ति का भाव दीख पड़ा। जान पड़ा मानो मन-ही-मन वे कह रही हैं, मुझसे यह बात पूछने का तुम्हें अधि-

कार नहीं है, किसी को नहीं है, मेरे प्रेम का अधिकारी केवल मेरा ही है। मन-ही-मन उन्होंने तय किया कि वे इस बात का जवाब न देंगी।

विजय ने सुना था कि चित्तौड़ाधिपति समरसिंह के पुत्र युवराज कल्याणसिंह के साथ उषावती का परिणय होने जा रहा है, यही खबर सुनकर इतनी उतावली से उन्होंने राजकन्या से मिलने की प्रार्थना की थी। राजकन्या इस विवाह से सहमत हैं या नहीं यह जानने तथा यदि वे किसी तरह राजकन्या को इस विवाह से असम्मत कर सकें, इसी प्रयत्न में विजयसिंह आज यहाँ आये थे। किन्तु अपने आखिरी प्रश्न का उत्तर न पाकर, उत्तर के लिये अधिक देर तक वह प्रतीक्षा न कर सके, स्वयम् ही बोले—"युवराज इन्द्रसिंह, रणवीरसिंह अथवा अजीतसिंह, क्या इन्हीं में से कोई तुम्हारा प्रेम-पात्र है?" उषावती पहले ही की तरह मौन रहीं। उन्हें निरुत्तर देख, अधीर होकर विजय ने कहा—"मुझे यह बात बताने में भी तुम्हें इतनी आपत्ति है?"

उषावती ने विरक्त होकर कहा—"नहीं, इनमें से कोई मेरे प्रेम-पात्र नहीं हैं। और कुछ पूछकर मुझे तङ्ग न करो। इस तरह के और किसी सवाल का मैं जवाब न दूँगी। यदि और कुछ न कहना हो तो अब जाओ।"

इसके बाद विजयसिंह ने उनसे कुछ न पूछकर अपने-ही-आप धीरे-धीरे कहा—"ये लोग नहीं तो कौन?—रणवीरसिंह नहीं,

इन्द्रसिंह नहीं तो राजकुमारी के उपयुक्त यहाँ और कौन है? एक युवराज कल्याण हैं। तब क्या राजकुमारी उन्हें ही प्यार करती हैं?"

कल्याण का नाम सुनकर राजकुमारी ने सिर उठाकर देखा। उनके मुँह का भावान्तर लक्षित हुआ। मुँह ज़रा लाल हो आया आँखें नीची हो गयीं और उनमें लज्जा के चिन्ह दीख पड़े। मन का भाव छिपाने के लिए वे उँगली से अपनी चादर लेकर चुपचाप खेलने लगीं—घूँघट को थोड़ा नीचे सरका लिया। विजय ने जिस अभिप्राय से यह बात कही थी, वह सिद्ध होगया। राजकन्या का यथार्थ मनोभाव वे समझ गये। उनके हृदय में आशा का जो अङ्कुर उगा था, वह सूख गया। वे और खड़े न रह सके, कमरे से बाहर निकलकर अपने घर चले आये। विजयसिंह के इस आचरण से राजकन्या हतबुद्धि-सी रह गयीं। क्षणभर के बाद जब उनका विस्मय कुछ कम हुआ तो उन्होंने अपनी सखी गुलाब को बुलवाया। गुलाब का मुँह उतरा हुआ था, आँखें लाल हो रही थीं—ऐसा जान पड़ता था, जैसे वह थोड़ी देर पहले रो रही हो। लेकिन राजकुमारी अन्यमनस्क होने के कारण यह भाव लक्ष्य न कर सकीं। उन्होंने कहा—"तुम मन्त्री-पुत्र को गुप्त-द्वार से यहाँ ले आयी थीं, लेकिन जाने के समय वे तुम्हारे लिए अपेक्षा न करके अकेले ही चले गये हैं। पहले मैंने उनसे मिलना अस्वीकार कर दिया था, नितान्त अनुभव-विनय पूर्वक अनुरोध करने से और यही उनकी आखिरी प्रार्थना है,

यह जानकर मैं मिलने के लिये राजी हुई थी। किस अभिप्राय से वे मुझसे मिलना चाहते हैं, यह जानती तो कभी उनसे न मिलती अब तुम जाकर देखो, उन्हें जाते किसी ने देखा तो नहीं है और गुप्त द्वार बन्द कर आओ।"

यह कहकर राजकुमारी सोने चली गयीं।

---

[९]

ससार में साधारणतः दो प्रकार का प्रेम देखा जाता है। पहली श्रेणी का प्रेम तो वह है जो अपने प्रेमी के लिये आत्म-समर्पण कर देता है; अपने-आपको तल्लीन कर देता है और दूसरी श्रेणी का प्रेम है वह जो केवल अपनी प्रसन्नता, अपने सुख-ऐश्वर और लालसाओं की तृप्ति के लिए होता है। विजय-सिंह का प्रेम इसी श्रेणी का था। जब उसको मालूम हुआ कि राजकुमारी कभी उसे प्यार न करेंगी, वे दूसरे को प्यार करती हैं तो घृणा और ईर्ष्या से उसका हृदय भर गया। उसके हृदय में बहुत दिनों से एक आशा छिपी हुई थी, आज वह भी नष्ट हो गयी। उसने सोचा था कि राजकुमारी ही दिल्लीश्वर की एक-मात्र कन्या है, यदि किसी प्रकार उनका प्रेम वह पा सकेगा तो भविष्य में वही दिल्ली के सिंहासन का अधिकारी होगा। पर, आज उसका स्थान कल्याण ने ग्रहण किया। मन-ही-मन ईर्ष्या

की आग में वह जल उठा और उसने मन-ही-मन प्रतिज्ञा की कि वह ऐसा कभी न होने देगा—मरेगा या मारेगा।

इसी प्रकार अनेक प्रकार के तक-वितर्क करता हुआ जब वह घर पहुँचा तो नौकर ने आकर खबर दी कि मंत्री बहुत देर से आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। विजय सिंह अपने पिता के पास आया। उसके पिता ८० वर्ष के वृद्ध हैं। दाढ़ी-मूँछ और सिर-के बाल सफ़ेद हो गये हैं। चेहरे पर तेज और गम्भीरता है। देखते ही मन में भक्ति का उद्रेक होता है। यद्यपि विजयसिंह के स्वरूप में इनसे बहुत सदृश्य है, पर उसमें इनके गुणों की छाया नहीं दीख पड़ती।

विजयसिंह ने कमरे में प्रवेश करके देखा, मन्त्री अमरसिंह कुछ लिख रहे थे। पास ही बहुत से काग़ज़-पत्र पड़े हुए थे। विजय को देख कर उन्हों ने लिखना बन्द नहीं किया, इशारे से बैठने को कहा। लिखना समाप्त होजाने पर उन्हों ने कहा—"मैं सन्ध्या से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे तुम से कुछ ख़ास बात करनी है।"

विजय ने कौतूहल से पूछा—"क्या आज्ञा है?"

मन्त्री ने कहा—"किसी आवश्यक काम से तुमको कल ही विदेश जाना पड़ेगा। सब सामान तैयार है। रातभर में तुम भी अपनी तैयारी करलो।"

कल सहसा ही विदेश जाना होगा, यह सुनकर विजय को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। अमरसिंह ने कुछ चिट्ठियाँ दिखाकर

कहा—"इन सबों को निर्दिष्ट स्थानों पर पहुँचाने के लिए एक विश्वासी और उपयुक्त पात्र की जरूरत थी। आगामी युद्ध के लिए मातहत तथा मित्र राजाओं से इस पत्र के द्वारा सहायता की प्रार्थना की है। इस बार जयचन्द भी हम-लोगों से चिढ़ा हुआ है और आश्चर्य नहीं कि वह शत्रुओं के साथ मिलकर हमारा अनिष्ट करना चाहे। इसीसे हमें पहले ही से सावधान रहना चाहिए। शत्रुओं के दूत इस समय चारों ओर लगे हुए हैं, ये पत्र यदि उनके हाथ लग जायँ तो हमारी विजय असम्भव हो जायगी। इसी से इन पत्रों को ले जाने के लिए मैं ने तुम्हें ही चुना है। यद्यपि तुम मुझे प्राणों से भी प्यारे हो, लेकिन देश के हित के लिए मैं तुम्हीं को भेज रहा हूँ। सावधानी से काम करना। यदि मैं चलने-फिरने लायक़ होता तो स्वयं ही जाता।"

कहते-कहते मन्त्री की आँखें भर आयीं। उन्हों ने अधीर हृदय से पुत्र को विदा-किया। जबतक दीख पड़ा, वे पुत्र को टक-टकी लगाकर देखते रहे, फिर अनेक प्रकार की चिन्ताएँ उनके हृदय को मथने लगीं। मन-ही-मन उन्होंने कहा—"भगवती आशापूर्णे, मेरे इस बुढ़ापे में अपनी और देश की सारी आशा तुम्हारे ही चरणों में समर्पित करता हूँ। माँ, तुम्हीं इस विपत्ति से रक्षा करना।"

मंत्री जब यह-सब सोच रहे थे, उस समय विजय क्या कर रहे थे? पहले उसने सोकर मनकी दुश्चिन्ताओं को दूर कर लेने का निश्चय किया था, किन्तु नींद किसी तरह न आयी। पिता का

तेजःपुञ्ज मुखमण्डल देखकर कुछ क्षणों के लिए जो बात वह भूल गया था, वही फिर उसका हृदय मथने लगी। तब वह उठकर कमरे में टहलने लगा। किस प्रकार वह राजकुमारी और उनके प्रेमी को दण्ड दे सकेगा, यही वह सोचने लगा। सोचते-सोचते उसे एक बात याद आयी। राजकुमारी की सखी गुलाब उसे बहुत दिनों से प्यार करती है, पर उसने आजतक सदा उसकी उपेक्षा की है, अब वह उसी को प्रेम करने के बहाने से अपना कार्य सिद्ध करेगा। हाय! संसार की यह कैसी गति है! जो जिसे चाहता है, वह उसे पाता क्यों नहीं?

अब फिर उसके हृदय में आशा का सञ्चार हुआ। वह उसी समय उठकर राज-महल की ओर चला और पहरेदारों की नजर से छिपता-बचता राजमहल की चारदीवारी फाँदकर जनाने बाग में पहुँच गया। वहाँ गुलाब के मकान के नीचे खड़ा होकर ऊपर जाने का उपाय वह सोच ही रहा था कि उसे एक मनुष्य की आहट मालूम पड़ी। वह एक पेड़ की ओट में छिप गया। पर वह गुलाब थी। रात में दुश्चिन्ताओं से नींद न आने के कारण, जी बहलाने के लिए बाग में चली आयी थी। उसे इतनी आसानी से अपने सामने पाकर विजय बहुत प्रसन्न हुआ और सामने आकर खड़ा होगया। सहसा एक पुरुष को सामने देखकर गुलाब घबरा गयी और वह चिल्लाने ही जा रही थी कि विजय ने कहा—"हाँ हाँ, यह क्या करती हो? मुझे चोर कहकर पकड़वाओगी क्या?" आवाज पहचानकर गुलाब का हृदय प्रसन्नता से भर

गया। उसने कहा—"इतनी रात को अब फिर किस लिए आये हो ?"

विजय ने कहा—"तुम्हारे लिए।"

दुःखभरी एक फीकी हँसी हँसकर गुलाब ने कहा—"यह मज़ाक़ करने का वक्त नहीं है।"

"मज़ाक़ नहीं, मैं सच ही कह रहा हूँ।

"मुझसे तुम्हें ऐसी क्या ज़रूरत है कि सबेरे तक न ठहर सके, रात को दौड़े आये हो ?"

"सबेरे मैं यहाँ न रहूँगा।"

"तो क्या बात है, झटपट कह डालो।"

"मैं तुम से एक बात पूछने आया हूँ।"

इस बातसे नाराज़ होकर गुलाब ने कहा—"जानती हूँ, तुम राज-कुमारी की बात पूछने आये हो। उनके मुँह से साफ़-साफ़ सब सुनकर भी तुमको सन्तोष नहीं हुआ ? वे कल्याण से प्रेम करती हैं। उन्हें पाने की आशा तुम छोड़ दो।"

विजय ने कहा—"नहीं राजकुमारी की नहीं, तुम्हारी बात है।"

गुलाब ने अचरज से पूछा—"मेरी बात ?"

"हाँ, तुम्हारी ही। आज उस समय तुम जो बात कह रही थीं, वह सच है ?"

"कब ? मैं क्या कहती थी ?"

"जब मैं राजकुमारी के कमरे से बाहर निकला तो तुम अपने

आप कह रही थीं कि तुम मुझे प्यार करती हो। यह क्या सच है ?"

गुलाब ने सोचा, विजय ने उसकी बात सुन ली है। लज्जा से उसने सिर झुका लिया। थोड़ी देर बाद बोली—"जब तुमने सब कुछ सुन ही लिया है तो अब क्यों पूछते हो ?"

"तब अनुमान सच है? तुम सचमुच ही मुझे प्यार करती हो ?"

"मैं प्यार करती हूँ या नहीं, यह जानकर तुम क्या करोगे? तुम तो मुझे प्यार करोगे नहीं। तुम्हारा हृदय तो दूसरे का हो चुका है।"

"नहीं मैं तुम्हें प्यार करूँगा।"

इस बात से गुलाब का मुँह प्रसन्नता से खिल उठा। लेकिन दूसरे ही क्षण फिर कुम्हला गया। सूर्योदय के साथ ही आसमान में मेघ घिर आये। दीपक जलते ही बुझ गया। उसने कहा—"जो आदमी अभी क्षण-भर पहले राजकुमारी के लिए पागल हो रहा था, वह कैसे अब दूसरे को हृदय-दान करेगा? और अगर करे ही, तो वह कल फिर इसी प्रकार किसी दूसरे के मन को प्रसन्न कर सकता है।"

विजय ने कहा—"अब तुम भी मुझे प्यार न करोगी? हाय! मेरा कैसा प्रारब्ध है कि राजकुमारी मुझे प्यार नहीं करतीं यह जान कर जब मैं उसके पास आया जो मुझे प्यार करता था, तो वह भी मेरे प्रति निर्दय हो गया! मैंने तुम्हें प्यार किया, क्या इसी लिए मैं तुम्हारे निकट अपराधी हो गया हूँ ?"

सरलहृदया गुलाब ने विजय की चालाकी न समझी। विजय को अपनी ही तरह सरल समझ कर उसने उसकी बातों पर विश्वास कर लिया। उसने कहा—"मैं तुम्हारी बात पर विश्वास करती हूँ। आज मेरे सौभाग्य का सूर्य उदय हुआ। आज से मैं तुम्हारी दासी हुई। मेरी बातों से यदि तुम्हें कष्ट हुआ हो तो क्षमा करना।"

विजय अपनी विजय पर खुश हो उठा। गुलाब ने समझा, उसकी बात से ही विजय को इतनी प्रसन्नता हुई है। इसी समय एक पहरेदार उधर आता दीख पड़ा। गुलाब ने कहा—"अब तुम जाओ। पहरेदार हमें देख लेगा तो बड़ी मुश्किल होगी।"

विजय ने कहा—"तब मैं चला। लौटकर आने पर फिर मिलेंगे।"

घर लौटकर अपेक्षाकृत निश्चिन्त मन से विजय ने शयन किया, क्योंकि गुलाब को पाकर अब वे अपनी प्रतिहिंसा की आग बुझा सकेंगे। सवेरा होने पर पिता से मिले बिना ही घोड़े पर सवार होकर विजय ने यात्रा के लिए प्रस्थान किया।

---

[१०]

सन्यासी और दलीप सिंह को हमने बहुत दिनों से नहीं देखा। अब एकबार उनकी खबर भी लेनी चाहिए।

रात आधी बीत गयी है। आसमान में असंख्य तारिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, पर चन्द्रमाहीन आकाश में शोभा नहीं है। रात्री गम्भीर निस्तब्ध है, धरती पर अन्धकार फैला हुआ है। किन्तु, इस अन्धकारमयी रजनी में भी कुटी में दीपक जल रहाहै। सन्यासी रोग-शय्या पर सोये हुए हैं, ज्वर की यातना से छटपटा रहे हैं और बीच-बीच में पानी-पानी कहकर पुकार उठते हैं। दलीप अब बाईस वर्ष के नवयुवक हैं। उनके मुँह पर पहले की सी ही सरलता और सुकुमारता प्रस्फुटित हो रही है। वे रोगी की परिचर्या में लगे हुए हैं। उनका मुँह चिन्तित और उदास हो रहाहै।

सन्यासी ने कहा—"पानी !"

दिलीप ने उनके मुँह में थोड़ा जल डालकर कहा—"अब तो दवा खाने का वक्त हो गया है। दवा ले लीजिए !"

सन्यासी ने कहा—"अब दवा खाने से कुछ लाभ नहीं है। अब दवा खाकर क्या करूँगा ? थोड़ा पानी और दो।"

पानी देकर दिलीप ने कहा—"पिताजी, आप ऐसी बातें क्यों कहते हैं ?"

सन्यासी ने कहा—"मैं तुम्हारा पिता नहीं हूँ। अब मुझे पिता मत कहना।"

दिलीप ने अपने आप कहा—"हाय! अब तो पिता जी को चेत भी नहीं रहा!"

सन्यासी ने कहा—"नहीं, यह बात नहीं है, तुम्हें लाड़-प्यार से पाल-पोसकर मैं पुत्र की साध जरूर पूरी की है, पर तुम मेरे पुत्र नहीं हो, अब अन्तिम समय में मैं तुम्हें भ्रम में नहीं रखना चाहता।"

दिलीप—"अब आप अधिक न बोलिए, बोलने से आपको कष्ट होता है।"

सन्यासी—"नहीं, मैं आज सब कुछ कहूँगा। तुम चुप-चाप सुनो। मैं चित्तौर का रहने वाला एक वैश्य हूँ। मेरे पिता रोजगार करते थे, पर उनके बाद मैं रोजगार में सफलता न प्राप्त कर सका। थोड़े ही दिनों में पिता के द्वारा उपार्जित सब धन यहाँ तक कि घर-द्वार तक मेरे हाथ से जाता रहा। इसके बाद ही मेरा एक मात्र पुत्र भी मुझे छोड़ गया। पुत्र के शोक में पत्नी भी चल बसी। तब मैं पागल-सा होकर वन-पर्वत-जङ्गलों में घूमने लगा। एकदिन रात को बड़ी आँधी आयी। सबेरे उठकर नदी के किनारे मैंने एक मृत बालक को देखा। पास जाकर देखने पर मालूम हुआ कि वह मरा नहीं है। मैं उसे बड़े यत्न से उठा लाया और पाला-पोसा; वही हमारा दिलीप है।"

जल पीकर थोड़ी देर बाद सन्यासी ने फिर कहना प्रारम्भ किया—"जो कपड़ा पहने हुए तुम डूबे थे, उसे मैंने सुरक्षित रख

दिया है। उसके द्वारा तुम्हारे वेश का पता चल सकेगा, उस समय जान-बूझकर मैंने तुम्हारे पिता-माता का पता नहीं लगाया, क्योंकि तुम्हारे प्रति मेरे मन में इतनी ममता हो गयी थी कि मैं तुम्हें छोड़ना नहीं चाहता था। मैंने अपने सुख के लिए तुम्हें न-जाने-कितने सुख से वंचित किया है!"

दिलीप ने कहा—"लेकिन आपको यह तो मालूम नहीं था कि मेरे पिता वास्तव में कौन हैं?"

"मालूम तो नहीं था, लेकिन मालूम हो सकता था। तुम्हारे गले के कवच में तुम्हारा नाम लिखा हुआ था, उसके द्वारा तुम्हारे पिता का नाम मैं जान सकता था। इसके अतिरिक्त एक बार तुम्हारे पिता का नाम मुझे मालूम भी हुआ था। हाय! मैंने अपने सुख के लिए कितना अन्याय किया है!"

अत्यधिक आवेग के कारण सन्यासी की स्नायविक प्रणाली छिन्न-भिन्न हो गयी। उनका शरीर बर्फ़ की तरह ठण्डा हो गया, साँस चलने लगी, फिर भी उन्होंने कहा—"सोने का कवच..... तुम्हारा असली नाम। तुम..... चित्तौर में..... "

सन्यासी इसके बाद और कुछ न बोल सके। उनके प्राण-पक्षी शरीर का पिंजरा छोड़ गये। दिलीप किंकर्तव्य-विमूढ़ बहुत देर तक वहीं बैठे रहे। होश आने पर बाहर निकलकर उन्होंने एक चिता बनायी, लेकिन शव को अकेले वहाँ कैसे ले जायँ? बहुत चेष्टा करके भी जब वे शव को वहाँ तक न लेजा सके तो शव पर एक चादर डालकर स्वयं भी पास ही सो रहे।

दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर वे सहायता के लिए ग्राम की ओर चले।

---

[११]

दोपहर का समय है। शरत्काल के तीव्र सूर्योत्ताप से राह चलना मुश्किल हो रहा है। इसी समय पहाड़ से होकर कविचन्द्र और उनका नौकर घोड़े पर सवार चले जा रहे हैं। ये दोनों ही थक गये, परेशान हो गये और पसीने से नहा गये हैं। किसी वृक्ष की छाया में थोड़ी देर सुस्ता लेने के लिए कविचन्द्र घोड़े पर से उतरना ही चाहते थे कि उनके नौकर अनाथ ने कहा—"महाराज! पास ही एक सन्यासी की कुटिया है। वहीं चलकर विश्राम क्यों न करें?"

कवि ने वैसा ही किया। सन्यासी के कुटी के पास आकर वे घोड़े से उतरे। कुटीर का दरवाज़ा बन्द था। अनाथ ने पहले उतरकर दरवाज़ा खोल दिया, फिर कवि से कहा—"सन्यासी शायद भीतर सो रहे हैं। आप चलकर विश्राम कीजिए।"

कवि ने पहले तो अन्दर जाना उचित न समझा, किन्तु अनाथ के बहुत कहने-सुनने पर अन्दर गये। देखा, सचमुच ही

एक मनुष्य सिर-से-पैर तक कपड़े में लिपटा हुआ सो रहा है। उन्होंने कहा—"महाराज! मुझे क्षमा कीजिएगा, मैं थोड़ी देर के लिए आपकी कुटी में चला आया हूँ।" पर वह आदमी टस-से-मस न हुआ। कवि को सन्देह होने लगा। उन्होंने ज़ोर से पुकार कर कहा—"महाराज, मैं रास्ते का थका-माँदा आपकी कुटीर में विश्राम चाहता हूँ।" किन्तु, उन्हें कुछ उत्तर न मिला। सोया हुआ मनुष्य हिला भी नहीं। कवि के मन का सन्देह दृढ़ होने लगा—तब क्या वे मृतक को जगा रहे हैं? उन्होंने उसके शरीर का कपड़ा उठाया—उठाते ही वह उनके हाथ से छूट पड़ा। सचमुच ही वे अब तक मृतक को जगाने की चेष्टा कर रहे थे। वे झटपट बाहर निकल आये। इसी समय एक युवा पुरुष कई ग्रामीणों को साथ लेकर कुटीर की ओर आते दीख पड़ा। दिलीप को देखते ही अनाथ कहने लगा—"यही क्या वह बालक है? दूसरी जगह देखता तो मैं पहिचान भी न सकता।"

पास आने पर दिलीप भी पहले अनाथ को न पहचान सका। अनाथ ने दिलीप से पूछा—"सन्यासी कहाँ हैं, और उनके शिष्य कहाँ हैं?"

दिलीप ने कहा—"हाय! आज वह दिन नहीं है, जब तुमने हम सब लोगों को साथ-साथ देखा था। पिता के शिष्य अपनी कन्या को लेकर बहुत दिन हुए, यहाँ से चले गए। कल पिताजी भी मुझे छोड़कर सदा के लिए चले गये। अब मैं अकेला ही यहाँ रह गया हूँ।" कहते-कहते दिलीप की आँखें भर आयीं। फिर

उन सब लोगों ने मिलकर सन्यासी का शव-दाह किया। तब तीसरे पहर तीनों आदमी कुटीर में वापस लौट आये। इस बीच में दिलीप के सम्बन्ध में कवि के मन में तरह-तरह की बातें उठ रही थीं। वे सोच रहे थे कि ऐसा सुन्दर-सुकुमार व्यक्ति तो राज-सभा में रहने लायक है। यह कुटीर में क्यों रहता है? तब क्या यह कोई छद्मवेशधारी राज-पुरुष है? अपनी उत्सुकता न रोक सकने के कारण कवि ने पूछा—"आपको देखकर तो यह मालूम होता है कि आप छद्मवेश धारण करके यहाँ रहते हैं। आप शायद यहाँ बहुत दिन से रहते होंगे!"

"मैं बचपन से यहीं रहता हूँ।"

"आपका जन्म भी यहीं हुआ था?"

"नहीं, लेकिन मुझे यह नहीं मालूम कि मेरा जन्म-स्थान कौन सा है।"

"क्यों? क्या आपके सन्यासी-पिता ने आपसे यह-सब कुछ नहीं बतलाया?"

"उन्होंने मुझसे जो कुछ कहा, उससे मैं यही जान सका हूँ कि मुझे असहाय अवस्था में पाकर वे ले आये और मेरा पालन-पोषण किया।"

कवि ने चकित होकर पूछा—"तब सन्यासी आपके पिता नहीं थे?"

"न।"

"तब आपके पिता कौन हैं?"

"यह भी मुझे नहीं मालूम; और, न अब मालूम होने का कोई उपाय ही है। सन्यासी अन्त समय में मुझसे यह बात बताने जा रहे थे, पर बताने के पहले ही उनका शरीरान्त हो गया।"

इस बात से दिलीप के परिचय मिलने की आशा जाती रही। कवि ने फिर पूछा—"अब आप इस कुटी में अकेले हैं?"

"हाँ, नितान्त एकाकी। पिता के लिए ही आजतक मैंने अपने को इस निर्जन पहाड़ में बाँध रक्खा था, उन्हीं के लिए इस प्रशान्त आकाश के नीचे बैठा-बैठा तरङ्गमय जगत् में विचरण करने की उद्दाम वासना के साथ संग्राम कर रहा था। अब मुझे बाँध रखनेवाला कोई नहीं है। अब मैं स्वाधीन हूँ, मुक्त हूँ।"

कवि ने प्रसन्न होकर कहा—"आप यदि चाहें तो मैं आपको अपने साथ दिल्ली ले चल सकता हूँ। यवनों के साथ हम लोगों की लड़ाई होनेवाली है। आपके लिए अपनी उद्दाम वासना को पूर्ण करने, अपनी कार्य-कुशलता, साहस और पराक्रम दिखाने का यही सब से अच्छा अवसर है।"

दिलीप प्रसन्नता से उत्तेजित हो उठे। बोले—"यवन? वे कौन हैं? मुझे युद्ध की शिक्षा नहीं मिली, पर मैं अस्त्र-शस्त्र चलाना जानता हूँ। मैं इसी समय उनसे युद्ध करने के लिये तैयार हूँ। मालूम पड़ता है, आजतक मैं इसी इच्छा से अधीर हो-हो उठता था।"

कवि ने क्रमशः दिलीप को यवनों का इतिहास और उनके

साथ युद्ध होने की बातें एक-एक करके बतला दीं। सभी बातें सुनकर दिलीप दिल्ली जाने के लिये बहुत व्यग्र हो गया। इसी सम्बन्ध की बातें उन लोगों में होने लगीं। सहसा कवि ने पूछा—"आपका नाम क्या है? यह बात पूछना तो मैं भूल ही गया था।"

"दिलीपसिंह।"

नाम सुनकर कवि को बड़ा आश्चर्य हुआ—"यह क्या वही दिलीपसिंह है?" उन्होंने पूछा कि—"आपके साथ इस कुटी में कभी कोई बालिका अपने पिता के साथ रहती थी?"

दिलीप ने व्यग्र होकर कहा—"हाँ, कुछ दिन वे लोग यहाँ थे जरूर, पर आपको उनकी बात कैसे मालूम हुई? आप क्या उनके बारे में कुछ जानते हैं? उस बालिका का क्या हुआ? हम दोनों बचपन के साथी थे।"

"युद्ध में बालिका के पिता की मृत्यु हो गई।"

"तब वह भी मेरी ही तरह पित्र-हीना हो गयी है! अब न जाने उसकी क्या हालत है!"

"वह मजे में है। उसे कोई कष्ट नहीं है।"

इस बात से सन्तुष्ट होकर दिलीप ने पूछा—"वह है कहाँ?"

"अजमेर।"

"अजमेर में किसके पास?"

"एक भले आदमी ने उसे अनाथिनी समझकर अपने यहाँ रख लिया है।"

दिलीप चौंक उठे। उन्होंने फिर पूछा—"उसका विवाह हो गया क्या ?"

कवि ने दिलीप के मनका भाव समझा और—उनकी परीक्षा लेने के लिए कहा—"नहीं, विवाह तो अभी नहीं हुआ, पर लोग कहते हैं कि जिन्होंने आश्रय दिया है, वे ही उसके साथ विवाह करेंगे।"

दिलीप का मुँह सूख गया। इतने दिनों के बाद अपना मन आज वे स्वयं समझ सके। उन्हें चुप देखकर कवि ने कहा—"क्यों, उसका विवाह होने पर आपको दुःख होगा क्या ?" दिलीप ने मन का भाव छिपाने की कोशिश करते हुए कहा—"आपने यह कैसे समझा ?"

"यों ही, बचपन से साथ रहने के कारण आपस में प्रेम हो जाना स्वाभाविक ही है।"

दिलीप ने लज्जित होकर कहा—"यदि आप ही की बात सच हो तो क्या है ? अब तक उसका विवाह हो गया होगा, अब वह परस्त्री है, अब उसके प्रति प्रेम रखना अधर्म है।"

"उसके आश्रयदाता के साथ उसका विवाह होगा ही इसका कुछ निश्चय नहीं है। लड़की अज्ञात-कुलशीला है, इसलिये लड़के-वाले उससे ब्याह नहीं होने देना चाहते।"

"शैलबाला की सम्मति तो है न ? यह है तो बहुत समझिये।"

"नहीं, उसकी इच्छा तो नहीं है।"

इस बात से दिलीप खुश हो गये। लेकिन उस बात को यहीं

रोककर कवि ने कहा—"अब तो मेरी थकावट दूर हो गयी है। अब चलने की तैयारी करनी चाहिये। आप को जो कुछ साथ ले चलना हो, ले लीजिये।"

सन्यासी की आज्ञा के अनुसार दिलीप ने अपने वे कपड़े बाँध लिये, जो बचपन में डूबने के समय उसके शरीर पर थे। तब उन्होंने कहा—"मुझे जो कुछ लेना था, मैं ले चुका। मेरी एक और प्यारी चीज है, बाहर चलकर उसे भी ले लूँगा।"

"वह क्या ?"

"भीम।"

"भीम कौन है ?"

दिलीप ने हँसते-हँसते कहा—"मेरा घोड़ा।"

उसी दिन रात को पहाड़ के नीचे उतरकर उन तीनों ने एक धर्मशाला में रात बिताई। सबेरे उठकर कवि ने कहा—"अब इस समय दिल्ली जाने का विचार मैंने छोड़ दिया है। यवनों के शिविर में जाकर मैं उनका कुछ हाल-चाल जानना चाहता हूँ। तुम आज ही दिल्ली को रवाना हो जाओ। कविचन्द्र के पास से आ रहे हो, यह जानकर पृथ्वीराज तुम्हें बड़े आदर से रक्खेंगे, बल्कि उनके नाम मैं तुम्हें पत्र लिखे देता हूँ।"

पत्र लिखकर उन्होंने दिलीप को दे दिया, फिर अनाथ को भी अजमेर वापस भेज दिया और स्वयं यवन-शिविर की ओर चले। इस प्रकार तीनों आदमियों ने तीन रास्तों से यात्रा की।

[१२]

शतद्रु नदी के किनारे यवनों का पड़ाव पड़ा हुआ है। मुहम्मद ग़ौरी अपने सभासदों के साथ बैठकर इस बात पर विचार कर रहा है कि दिल्ली पर किस प्रकार आक्रमण किया जायगा।

शाम हो रही थी। सब लोग शामियाने के नीचे बैठे हुए थे। मुहम्मद ग़ोरी ने कहा—"ऐसा न करने से हमारी विजय होना सम्भव नहीं है। पिछली बार की लड़ाई में हम लोगों ने हिन्दुओं को अच्छी तरह से पहचान लिया है। सामने धर्म-युद्ध में लड़कर उनसे जीतना आसान नहीं है; लेकिन इस बार हम जो उपाय काम में लाने जा रहे हैं, उससे जीतने की आशा होती है।"

सारे सभासदों ने मुहम्मद ग़ोरी की हाँ-में-हाँ मिलाते हुए कहा—"हाँ-हाँ, इस उपाय से जरूर हमलोगों को कामयाबी हासिल होगी।"

मुहम्मद ग़ोरी ने कहा—"हिन्दू अनेक प्रकार की विद्याओं और शास्त्रों में जैसे पण्डित होते हैं, अनेक बार लोकाचार और दुनियादारी में वैसे ही मूर्ख भी होते हैं। धूर्तता और ज़रूरत के अनुसार झूठ बोल लेने से दुनिया में कितने काम बनते हैं, यह

उन्हें नहीं मालूम। चाहे प्राण चले जायँ, पर वे झूठ बोलना नहीं पसन्द करेंगे। इन्हें तो धूर्तता और छल-कौशल से ही पराजित किया जा सकता है।"

इसी समय एक पहरेदार ने आकर मुहम्मद गोरी को सलाम करके कहा—"एक हिन्दू आकर आपसे मिलना चाहता था, हम लोगों ने जासूस समझकर उसे क़ैद कर लिया है।"

"उसे क़ैद करलो, सभा में लाने की जरूरत नहीं।"

"लेकिन वह कहता है कि वह जासूस नहीं है।"

"होगा भी तो क्यों स्वीकार करेगा कि वह जासूस है? वह चाहे जो कोई हो, अपना काम बनाने के लिये हमें हिन्दू-मात्र को क़ैद कर लेना होगा। जाओ, उसे क़ैद कर लो।"

पहरेदार फिर भी खड़ा है, यह देखकर मुहम्मद गौरी ने पूछा—"और कोई बात है?"

"वह कहता है, उसे क़ैद कर लेने से आपका अनिष्ट होगा।"

मुहम्मद गोरी ने गुस्से से कहा—"उससे मुझे डरकर चलना होगा? उसे क़ैद कर लेने से क्या होगा?"

"वह कहता है, लड़ाई में हमलोगों की जीत न होगी।"

"उसका लड़ाई से ताल्लुक़ क्या है?"

"वह कहता है, वह लड़ाई में हमारी जीत करा दे सकता है।"

"किस तरह?"

"यह बात तो वह आप ही को बतलाना चाहता है।"

थोड़ी देर तक सोच-विचारकर मुहम्मद गौरी ने उसे ले आने

का हुक्म दिया। पहरेदार उसे जाकर सभा में ले आया। हमारे पाठक कदाचित् यह बात पहले ही समझ गये होंगे कि विजय के सिवा यह और कोई नहीं है। विजय को बैठने को कहकर गोरी ने पूछा—"आप किसलिये यहाँ आये है ?"

"आपका उपकार करने।"

"आप हिंदू होकर यवन का उपकार करने आये हैं, यह कैसे सम्भव हो सकता है ?"

"आपको मालूम है, दिल्ली फ़तह करना आपके लिये दुराशा-मात्र है। पिछली बार आप लोग किसी तरह बच गये थे, लेकिन इस बार रक्षा नहीं है।"

"यह जानकर ही हम आये हैं। आप क्या हमें डराने आये है?"

"नहीं; जो आपका इस विपत्ति से उद्धार कर सकता है, उसे मैं जानता हूँ। वही आपको बताने आया हूँ।"

"वह कौन है ?"

"मैं हूं।"

"आप ? आप कौन हैं ?"

इस प्रश्न से विजय चिन्तित हुए। बोले—"मैं कोई भी होऊँ, पर मेरी सहायता से आप विजय पा सकेंगे।"

"बिना परिचय पाये मैं कैसे जान सकूँगा कि आपकी कितनी शक्ति है ? जय-पराजय के लिये यदि हमें आप ही पर निर्भर होना पड़ेगा, तो बिना आपका परिचय पाये हम आप पर विश्वास कैसे कर सकेंगे ?"

विजय ने देखा कि अब परिचय देने के सिवा दूसरा उपाय नहीं, फिर भी मुहम्मद ग़ौरी का मन टटोलने के लिये उसने कहा—"और अगर मैं अपना परिचय न दूँ ?"

"तो आप हमारे क़ैदी हैं।"

विजय का मुँह लाल हो गया। क्रोध के कारण आत्म-विस्मृत होकर गर्व से उसने कहा—"तब आप जानना ही चाहते हैं कि मैं कौन हूँ ! मैं दिल्ली के मंत्री का पुत्र विजयसिंह हूँ।"

एक सभासद ने कहा—"ठीक है। मैं इन्हें पहिचानता हूँ। पिछली बार जब मैं दूत बनकर दिल्ली की राज-सभा में गया था, तो मैंने इन्हें देखा था।"

अब मुहम्मद ग़ौरी को मालूम हुआ कि सचमुच ही यह काम का आदमी है। उन्होंने कहा—"मैंने आपका परिचय जानने के लिए ही ऐसा व्यवहार किया है, इसके लिए मैं माफ़ी चाहता हूँ। मेरे द्वारा बन्दी होने की आपको कोई आशंका नहीं है।"

विजय इस बात से मन-ही-मन हँसा। इस बार ठठेरे-ठठेरे बदलौअल है। ग़ौरी की कपटता समझकर भी विजय उसके नम्र व्यवहार से प्रसन्न हुआ। ग़ौरी ने पूछा—"आप किस प्रकार हमारी सहायता कर सकते हैं ?"

"मालूम पड़ता है, आपने यह बात नहीं सोची कि एक विधर्मी स्वार्थ-शून्य होकर आपकी सहायता करने के लिये यहाँ आया है!"

"नहीं, ऐसा मैंने नहीं समझा। मेरा उपकार करके उसका बदला आप चाहेंगे, यह मैं जानता हूँ।"

"तो लड़ाई में अगर आपकी जीत हो तो मैं क्या आशा कर सकता हूँ ?"

"आप क्या आशा करते हैं ?"

"सिंहासन ?"

"तो लड़ाई करने से हमें क्या लाभ होगा ? केवल कुछ लोगों की खून-खराबी ही का हमारा उद्देश्य है ?"

"नहीं, लड़ाई में जीतकर आप अपने पुराने बैर का बदला ले सकेंगे और बहुत-सा धन-रत्न लेकर अपने घर लौट जायँगे। यदि मैं सहायता न करूँ, तो आपके जीतने की कोई आशा नहीं है।"

मुहम्मद गौरी ने हँसकर कहा—"अब की बार हम हिंदुओं की अपेक्षा कितनी अधिक सेना लेकर आए हैं, यह देखकर भी आप ऐसी बात क्यों कहते हैं ? इतनी सेना होते हुए भी आपकी सहायता के बिना हम नहीं जीत सकते, यह बात तो विश्वास करने लायक़ नहीं है।"

"इसकी अपेक्षा हज़ारगुनी अधिक सेना होने पर भी, मेरी सहायता के बिना आप वीर हिन्दुओं से नहीं जीत सकते। आप यदि मेरी सहायता न चाहते हों तो मैं चला जाऊँगा।"

यह कहकर विजय उठ खड़ा हुआ। मुहम्मद गौरी ने कहा—"अच्छा, यदि ऐसा हो, यदि हम आपकी सहायता लेना ही चाहें, तो क्या आप सिंहासन के अलावा और कुछ चीज़ नहीं लेंगे ?"

"नहीं।"

मुहम्मद गौरी का मुँह लाल हो गया, ललाट और आँखें सिकुड़ गयीं। उन्होंने मन-ही-मन सोचा कि यहाँ बहुत नम्र होने से काम न चलेगा। बोले—"लेकिन अपनी इच्छा से हमारी सहायता न करने पर भी, आपको अब हमारी सहायता करने के लिए विवश होना पड़ेगा। इस समय आप हमारे हाथ में हैं, हम लोग आपके हाथ में नहीं हैं। आप मेरी सहायता न करेंगे,तो हम पृथ्वीराज के सामने आपकी यह विश्वासघातकता प्रकाशित कर देंगे। उस समय आपकी क्या गति होगी? आप सोच देखिए, हमारी सहायता करने के अलावा आपके लिए और क्या रास्ता है?"

विजय ने देखा, सचमुच ही वह उनके फन्दे में आ पड़ा है। क्रोध, हिंसा और लोभ के वशीभूत होने के कारण, यहाँ आने के पहले ये बातें उसके ध्यान में आयी ही न थीं। यदि वह गौरी की बात न माने तो अनायास ही वह पृथ्वीराज के सामने उसका भेद खोल दे सकता है। जिस भय से वह पहले परिचय न देना चाहता था, आखिर वही आगे आया। अन्त में वह बोला—"इससे तो मेरा ही सर्वनाश होगा। आपके कुछ लाभ की आशा तो है नहीं।"

मुहम्मद गोरी ने किसी प्रकार विजय को अपनी मुट्ठी में न आते देखकर कहा—"यह ठीक है। अच्छा, आप राजा होंगे। अब बताइये, आप किस प्रकार हमारी सहायता करेंगे?"

"युद्ध के समय सेना के साथ रहकर किसी उपाय से उन्हें लड़ाई से रोक रक्खेंगे, इसी सुयोग में आप जय-लाभ कर सकते हैं।"

"यह उपाय तो ठीक नहीं है।"

"तब मैं उपाय ठीक करके आज से पन्द्रह दिनों के अन्दर बताऊँगा। लेकिन आपकी बात का विश्वास क्या है?"

"मैं वचन देता हूँ।"

विजय ने सोचा कि चोर के वचन का मूल्य ही क्या है? लेकिन जब इसके हाथ आ पड़ा हूँ, तो इनकी बात पर अविश्वास करना ठीक नहीं है। ऐसा होगा तो ये इस बात को महाराज पर प्रकट कर देंगे। मैं दोनों ही ओर से मारा जाऊँगा। यही सोच-कर विजय ने कहा—"अच्छा, वचन दीजिये।"

मुहम्मद गौरी ने क़ुरान छूकर कहा—"यदि युद्ध में विजय हुई, तो भविष्य में आप राजा होंगे, लेकिन यदि आपने अपना वादा पूरा न किया तो जिस किसी तरह होगा, मैं आपसे बदला लूँगा और पृथ्वीराज के सामने आपका भेद खोल दूँगा।" मुँह से यह बात कहकर मुहम्मद गौरी ने मन-ही-मन कहा—"तुमने अपने राजा के प्रति विश्वासघात किया, मौक़ा पाकर मेरे प्रति भी करोगे, तुम्हारा विश्वास नहीं है। युद्ध में विजय होने पर तुम राजा होने की आशा करते हो? यदि तुम्हें प्राण-दान दूँ, तो यही तुम्हारे लिए सब से बड़ा पुरस्कार होगा।

विजयसिंह ने कहा—"अब मैं राजपूताना से दिल्ली जा रहा

हूँ। पन्द्रह दिन के बाद रात के समय दिल्ली के पर्वत पर आपके आदमियों की प्रतीक्षा करूँगा। जो उपाय निश्चित करूँगा, उस की सूचना उसी के द्वारा दे दूँगा। आप लोग क्रम से अग्रसर होते चलिए।"

"क्या राजपूताना के सभी राजे दिल्लीश्वर की सहायता के लिए आवेंगे?"

"हाँ, उन सबों ने लिखा है कि आवेंगे; लेकिन बातों-ही-बातों में मैंने उन्हें यह बतला दिया है कि मुझे उनकी सहायता की बहुत जरूरत नहीं है, लेकिन सेना जितनी अधिक रहे, उतना ही अच्छा है, इसीलिए उनकी सहायता माँग रहे हैं। जब उन्हें हमारी इस बात पर विश्वास हो जायगा, तो क्यों कोई अपना देश छोड़-कर दिल्ली दौड़ता फिरेगा? यदि आप मेरे प्रस्ताव पर राजी न होते तो मुझे फिर उन लोगों के पास जाना पड़ता, जिसमें वे लोग जरूर आवें; लेकिन मैं जानता था कि आप मेरी बात मान लेंगे।"

"सभी राजों ने आने की इच्छा प्रकट की थी?"

"हाँ, लेकिन जयचन्द और पत्तनराज नहीं आवेंगे। उनसे हमलोगों ने सहायता माँगी भी न थी।"

"जयचन्द ने तो चुपके-चुपके हमारी सहायता करने का वचन दिया है।"

"हाँ, वे महाराज के शत्रु हैं, यह हम लोगों को मालूम है।" यह कहकर और विदा लेकर विजयसिंह चला गया।

विजयसिंह के चले जाने पर एक सभासद ने पूछा—"आपने इसे राज्य देने का वचन दिया है, फिर दिल्ली पर अधिकार करने से हमें लाभ क्या हुआ ?"

मुहम्मद गौरी ने कहा—"पहले इसकी सहायता से हम फ़तह पालें, फिर राज्य देना तो बहुत दूर की बात है।"

इधर संयोग से इस बीच में एक पहाड़ के ऊपर चढ़कर कविचन्द्र यवन-शिविर की अवस्था देख रहे थे। सहसा एक हिन्दू को यवन-शिविर में प्रवेश करते देखकर उनके मन में कौतूहल उत्पन्न हुआ। वह कौन है, किसलिये यहाँ आया है, उनके मन में यह जानने की उत्कण्ठा हुई। आस-पास में छिपकर देखने की कोई जगह है या नहीं, इसकी खोज करने पर उन्होंने देखा कि शिविर के पिछवाड़े एक सघन बड़ का पेड़ है। पर्वत पर से उतर कर बड़ी सावधानी से वे पेड़ पर चढ़ गये। जब उन्होंने विजय को यवन-शिविर में प्रवेश करते देखा था, उस समय भी सूर्य का प्रकाश थोड़ा-थोड़ा फैला हुआ था। पहाड़ से उतरते उन्हें शाम हो गयी। अँधेरे में पेड़ पर चढ़ने में विशेष दिक्कत न हुई। पेड़ की जो डाली शिविर के अन्दर चली गयी थी, उस पर दूर तक जाकर उन्होंने तलवार से तम्बू का थोड़ा-सा हिस्सा काट दिया, और उसमें आँख लगाकर देखने लगे। मन्त्री-पुत्र को देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। मन-ही-मन उन्हों सोचा—"विजय यहाँ किसलिए ?"

जाने के पहले मुहम्मद गौरी से विजय की जो बातें हुईं,

कविचन्द्र केवल उतना ही हिस्सा सुन सके; लेकिन उतने से ही वे विजय के हृदय का भाव समझ गये। क्रोध से उनका सारा शरीर काँपने लगा। एक बार उनके जी में आया कि शिविर में जाकर उसका सिर काटलें; लेकिन सोच-समझकर वे चुप रह गये। धीरे-धीरे पेड़ से उतरने लगे, किन्तु मन चञ्चल होने के कारण पहले की तरह चुपचाप न उतर सके। पत्तों की खड़खड़ाहट होते ही सिपाहियों ने आकर इधर-उधर देखना-भालना शुरू किया। थोड़ी ही देर में पेड़ के नीचे भीड़ इकट्ठी हो गयी और सिपाहियों ने कविचन्द्र को पकड़ लिया। कवि ने भी इसमें बाधा न डाली; क्योंकि वे किसी तरह उनके हाथ से निकलकर दिल्ली पहुँचना आवश्यक समझते थे।

इधर सिपाही उनको पकड़कर मुहम्मद गौरी के पास ले आये। रास्ते में विजय से मुलाक़ात हो गयी। विजय को देखकर कवि का क्रोध उमड़ उठा। उन्हें भले बुरे का ज्ञान न रह गया। आँखें लाल करके बोले—"नीच! तू राज्य के लोभ से देश का अनिष्ट करना चाहता है? शीघ्र ही तू इसका फल पावेगा।" यह कहकर उन्होंने कमर में लटकती हुई तलवार निकालने का प्रयत्न किया, लेकिन सिपाहियों ने उन्हें धक्का देकर उनकी कमर से तलवार खोल ली।

कविचन्द्र ने विजय की मन्त्रणा सुनी है, यदि यह बात वे प्रकाशित न होने देते तो कदाचित् विजय के द्वारा ही उनका छुटकारा हो जाता; पर उन्होंने वह रास्ता अपने-आप ही बन्द

कर दिया। विजय ने समझ लिया कि कवि सारी बातें सुन चुके हैं, उन्हें बात बनाकर भुलाया नहीं जा सकता, और यदि कवि छूट गये तो उनकी रक्षा नहीं है। विजय चिन्तित होकर फिर मुहम्मन गौरी के पास गया। उन दोनों में चुपचाप कुछ बात-चीत हुई। कविचन्द्र क़ैद हो गये।

---

[१३]

तारका-शोभित चन्द्रमा की तरह दिल्लीश्वर पृथ्वीराज अपने सभासदों से घिरे हुए बैठे हैं। पास ही दूसरे सिंहासन पर वीर चूरामणि योगीन्द्र समरसिंह आसीन हैं। यवन दिल्ली पर आक्रमण करनेवाले हैं, यह सुनकर वे अपनी सेना के सहित दिल्ली आये हुए हैं। समरसिंह को जब आखिरी बार हमने देखा था, उसके बाद बीस वर्ष बीत गये हैं। समय के साथ समरसिंह में भी यथेष्ट परिवर्तन हो गया है। अब वे युवक नहीं रह गये हैं। अवस्था लगभग पचास के है। जटा और डाढ़ी ख़ूब बढ़ गयी है। किन्तु उनके शारीरिक और मानसिक तेज में कुछ भी कमी नहीं हुई। हाँ, वयस की अधिकता और मानसिक दुःख के कारण उन में अपेक्षाकृत गम्भीरता जरूर आगयी है। वे एक तेजस्वी ऋषि की तरह मालूम होते हैं। सभा में बैठे हुए सब लोग आगामी युद्ध के बारे में विचार कर रहे थे, इसी समय एक

सिपाही ने आकर खबर दी कि वन-शिविर से मुहम्मद गौरी का सम्वाद लेकर एक दूत आया हुआ है। पृथ्वीराज ने उसे तुरन्त सभा में बुलाया। इस बार युद्ध के लिए आने पर मुहम्मद गौरी ने राज्य का हालचाल जानने के लिए इसके पहले जो दूत भेजा था, पृथ्वीराज ने उसी के मुँह से मुहम्मद गौरी के पास उसका जवाब भेज दिया था। आज दूत पुनः उसका प्रत्युत्तर लेकर आया है।

पृथ्वीराज ने क्या उत्तर दिया था, यह पहले बतला देना चाहिए। पृथ्वीराज ने दूत से कहा था कि मुहम्मद गौरी क्यों जान-बूझकर जलती हुई आग में कूदना चाहते हैं? अगर उन्हें पहले की बात याद हो, तो अब से भी लौट जाँय। यदि वे ऐसा करेंगे तो हम दया करके उन्हें उनके देश वापस जाने देंगे, और बौना जो चन्द्रमा छूने का उद्योग कर रहा है, उसकी इस उद्-एडता को क्षमा कर देंगे।

दूत ने सभा में आकर हाथ जोड़कर कहा—"मुहम्मद गौरी ने कहा है कि वे क्या करें? वे तो सम्राट् नहीं हैं। वे तो केवल एक कर्मचारी हैं। सम्राट् ने उन्हें लड़ने के लिए भेजा है, वे जी-जान से लड़ेंगे।"

यह सुनकर पृथ्वीराज ने गर्वपूर्वक कहा—"यदि मुहम्मद गौरी जान-बूझकर विपत्ति में पड़ना चाहते हैं, तो उन्हें आने दो। एक बार और क्षत्रिय-तेज देख जाँय!"

पृथ्वीराज की बात समाप्त होते-होते सभा के एक कोने से आवाज आयी—"उनसे कहना, पिछली बार युद्ध में हार जाने

पर हम लोगों ने हिन्दू-रीति के अनुसार उनपर दया की थी, यह उसी का परिणाम है ? वे फिर हमारे देश में उत्पात करने आये हैं। इस बार उन्हें समुचित दण्ड दिया जायगा। इस बार किसी को लौटकर देश जाने की जरूरत न पड़ेगी।"

यह आवाज जिधर से आयी थी, सब लोग उधर ही देखने लगे। पृथ्वीराज ने कहा—"ओहो ! विजय—तुम कब आये ? जिस काम के लिए गये थे, उसका क्या हुआ ? तुम्हारे साथ यह अपरिचित युवक कौन है ?"

विजय को वापस आया देखकर मन्त्री के हर्ष की सीमा न रही। विजय ने पास आकर कहा—"महाराज भूल रहे हैं, अभी तक दूत विदा नहीं किया गया है ?"

"ठीक है" कहकर महाराज ने दूत से पूछा—"तो वे यहाँ कब आना चाहते हैं ?"

"एक महीने बाद।"

पृथ्वीराज ने कहा—"अच्छी बात है, हम लोग उन्हीं की इच्छा के अनुसार काम करेंगे। उनसे कह देना, आज से एक महीना बाद उनका घमण्ड चूर करने के लिए हम थानेश्वर में उनकी प्रतीक्षा करेंगे।"

दूत के चले जाने पर विजय ने पहले काम की बातें कीं, फिर कहा—"ये युवक कविचन्द्र के यहाँ से आ रहे थे, रास्ते में मुझ-से मुलाकात होगयी। हम लोग साथ-ही-साथ आये हैं।" पृथ्वी-राज के पूछने पर दिलीप ने कविचन्द्र के सम्बन्ध की सारी बातें

सुना दीं, और तब उनका पत्र महाराज को दिया। पत्र पढ़कर उन्होंने दिलीप के रहने योग्य स्थान का प्रबन्ध करने का हुक्म देकर कहा—"अब तक कविचन्द्र यवनों के शिविर से लौटकर नहीं आये। मालूम होता है किसी विपत्ति में पड़ गये!"

नवागत युवक को देखकर समरसिंह अपलक आँखों से उसकी ओर ताकते रह गये। यह सुन्दर युवक कौन है? कौन भाग्यवान् इसे अपना पुत्र कहकर सम्बोधित करने का अधिकारी है? इसे देखकर किरणसिंह की याद क्यों आ रही है? किरण होता तो इतना ही बड़ा होता। इतना ही सुन्दर होता। हाय! किस पाप से मैंने उसे खो दिया?—यही सब सोचते-सोचते समरसिंह की आँखों में अतीत का चित्र प्रस्फुटित हो उठा। वे चिन्तित और उदास हो गये।

पृथ्वीराज ने पूछा—"यह क्या? आप सहसा ऐसे क्यों हो गये?"

समरसिंह का ध्यान टूटा। बोले—"इस युवक को देखकर मुझे किरण की याद आगयी। प्रत्येक युवक को देखकर मेरे मन में ऐसा ही होता है, पर इसे देखकर तो मैं बहुत ही चञ्चल हो गया हूँ।"

समरसिंह की बात सुनकर पृथ्वीराज ने युवक की ओर देखा। उन्हें सचमुच युवक का चेहरा समरसिंह से मिलता-जुलता जान पड़ा; लेकिन यह बात कहने से समरसिंह कहीं सचमुच ही इसी युवक को अपना पुत्र न समझ बैठें, इसलिए उन्होंने कहा—"जो

बीत गया, उसके लिए शोक करना व्यर्थ है। जब निश्चय है कि किरणसिंह डूबकर मर गया, तब फिर उसके जीवित होने की आशा करना दुराशा-मात्र है।"

समरसिंह ने कहा—"यह तो ठीक है, लेकिन फिर भी मेरे मन में बार-बार यही उठता है कि मेरा बच्चा खोगया है, मरा नहीं।"

इसके बाद समरसिंह बात बदलने के लिए लड़ाई की बातें करने लगे। यह तय हुआ कि सेना चार हिस्सों में बाँट दी जायगी, जिसके चार प्रधान सेनापति रहेंगे। तीन सेनाएँ तीन तरफ़ से यवनों पर हमला करेंगी, और एक सेना हमेशा मदद के लिए तैयार रहेगी। चारों सेनाओं के सेनापति क्रम से पृथ्वीराज, समरसिंह, कल्याण और विजय निश्चित किये गये।

युवराज कल्याण समरसिंह के साथ दिल्ली आये थे और राजकन्या को देखकर उन्होंने उसके साथ विवाह करने की इच्छा प्रकाशित की थी। पहले तो समरसिंह ने इस विवाह को टालना चाहा था, क्योंकि ज्योतिषी की गणना की बात उन्हें याद थी पर पुत्र की हठ देखकर उन्होंने निश्चय किया था कि युद्ध समाप्त होने के बाद विवाह होगा। विजय ने आकर यह बात सुनी तो सोचा—"युद्ध में कल्याण जीते बच गये तब तो?"

जिस समय युद्ध के सम्बन्ध में यह परामर्श हो रहा था, कल्याण वहाँ पर उपस्थित नहीं थे। कल्याण अनुपस्थित देखकर पृथ्वीराज ने उन्हें बुलाने के लिए विजय को भेजा। विजय ने सभा से प्रस्थान किया।

[१४]

जिस समय इधर उपरोक्त बातें हो रही थीं, उस समय युवराज कल्याणसिंह क्या कर रहे थे ? वे यमुना-स्थान पर से राजकुमारी के साथ यमुना की शोभा देख रहे थे। पृथ्वीराज ने कन्या के मनोरञ्जन के लिए यह अद्भुत स्तम्भ बनवाया था, यह आज भी वर्तमान है। दिल्ली-विजय करने के बाद मुसलमानों ने इसका नाम कुतुब मीनार रख दिया है।

सन्ध्या हो रही थी। नगर के देवी-मन्दिर से नौबत तथा शङ्ख-घण्टाध्वनि के साथ नगर का जन-कोलाहल सम्मिलित होकर एक अपूर्ण संगीतमय ध्वनि दूर से सुन पड़ती थी। थोड़ी दूर पर यमुना बह रही थी—चन्द्रमा आसमान में खिल उठा था। एक ओर राज-महल और क़िला अपना उन्नत मस्तक उठाये खड़ा था। बड़ा मनोहर दृश्य था, पर राजकुमार की आँखें यह दृश्य न देखकर राजकुमारी के लज्जा-नमित मुँह की शोभा देखने में ही तन्मय थीं। उस रूप-माधुरी को देखते-देखते राजकुमार आत्म-विस्मृत होगये, निस्तब्ध-निस्पन्द होगये थे। उन्हें इस बात का खयाल भी न था कि उन्हें दूर से छिपकर कोई देख रहा है।

सहसा कल्याण का ध्यान भङ्ग हुआ। इस मर्त्य-लोक में कौन

कब अधिक समय तक इस सुख और आनन्द का उपभोग कर सका है ? एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर उन्होंने कहा—"उषा, तुम्हारा मुँह मलिन क्यों है ?" राजकुमारी ने कुछ उत्तर न दिया। उनकी आँखों से आनन्दाश्रु ढरक पड़े। राजकुमार ने फिर पूछा—"उषा, यह उदासी क्यों ?"

इस बार उषावती ने घबराकर कहा—"नहीं, कुछ नहीं। मैं तो कुछ नहीं सोचती। तुम क्या सोच रहे थे ?"

"मैं सोचता था कि मैं स्वप्न देख रहा था—ऐसा स्वप्न कि उषावती मेरी ही है। राजकुमारी! यह स्वप्न कभी सच्चा होगा ?"

"तुम्हें कब इस बात का विश्वास होगा ? युद्ध के बाद हम लोगों का विवाह होगा, यह निश्चय हो जाने के बाद भी तुम्हें विश्वास नहीं हो रहा है ?"

"नहीं, मेरे मन में ऐसा होता कि यह रत्न पाने के पहले ही एक दुर्घटना होगी—या तो मैं ही युद्ध में मारा जाऊँगा, अथवा यह दुर्लभ रत्न मेरी अपेक्षा किसी अधिक भाग्यवान् के हाथ पड़ेगा।"

उषावती की आँखें भर आयीं। उसने कहा—"तुम ऐसा न समझना। यदि मेरे दुर्भाग्य से ऐसा ही हो तो मैं विधवा हो जाऊँगी—जीवन-मरण में तुम्हीं मेरे पति हो।"

कहते-कहते उषावती का गला रुँध गया, आँखें भर आयीं, पर कल्याण यह न देख सके। उन्हों ने कहा—"लेकिन यदि तुम्हारे पिता तुम्हें दूसरे को समर्पित करें तो तुम क्या करोगी ?"

"मैं प्राण-त्याग करके परलोक में फिर तुमसे मिलूँगी। पुरुष होकर तुम स्त्री का प्रेम कैसे समझ सकोगे? प्रेम के सम्मुख हम लोगों का प्राण एक बहुत ही क्षुद्र पदार्थ है।"

इस बात से कल्याण के हृदय का गभीरतम देश भी मानो एक अपूर्व उच्छ्वास से आलोकित हो उठा। उन्होंने कहा—"कल्याणि! तुम पुरुष-जाति को दोष दे रही थीं, लेकिन मैं चतुर्भुजा देवी को साक्षी देकर कहता हूँ कि तुम्हारे सिवा और कोई मेरी प्रणय-पात्री न होगी और न मैं और किसी को पत्नी-रूप में ग्रहण करूँगा।"

इसी समय एक दासी ने आकर उनकी सुख-निद्रा भङ्ग की। उसने कहा—"मन्त्रि-पुत्र कह रहे हैं कि महाराज आपको सभा में बुला रहे हैं।"

विजय का नाम सुनकर राजकुमारी चौंक उठीं। उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानो विजय कल्याण का अनिष्ट करने आया हो। मन-ही-मन वे डर गयीं। उनका ऐसा भावान्तर देखकर राजकुमार ने पूछा—"उषा, क्या हुआ?"

पहले तो राजकुमारी के जी में आया कि वे सारी बातें स्पष्ट रूप से कह दें, पर लज्जा के कारण वे ऐसा न कर सकीं। बोलीं—"कुछ नहीं।"

युवराज ने फिर और कुछ न पूछा। उन्होंने देखा, सभा में जाने का समय बीत चुका है। किस तरह इतनी जल्दी समय बीत गया, वे समझ न सके, झटपट उतरकर बारा में पहुँचे।

चलते-चलते एक लता-मञ्च के सामने आकर उन्होंने किसी को राजकुमारी का नाम लेते सुना, थमककर खड़े हो गये, पैर मानों अपने-आप ही अवश हो गये। उन्होंने सुना—"राजकुमारी कैसी पाषाण हैं! राजकुमार उन्हें इतना चाहते हैं और वे दूसरे को प्यार करती हैं। उनकी भी क्या रुचि है! ऐसे सुन्दर पुरुष को छोड़कर विजय पर मुग्ध हैं!! लेकिन राजकुमार कैसे भोले हैं कि राजकुमारी की बनावटी बातों पर ही प्रसन्न हैं। उनकी दुर्दशा देखकर मेरी छाती फटती है। राजकुमारी के हृदय में क्या जरा भी ममता नहीं है? बड़े आदमी बड़े ही निष्ठुर होते हैं।"

यह सुनकर युवराज का हृदय कण्टकित हो उठा, नस-नस में अग्नि की तरह रक्त प्रवाहित होने लगा। सभा में न जाकर उन्होंने मञ्च के अन्दर प्रवेश किया। उन्हें देखकर गुलाब सहमी हुई बोली—"अरे! राजकुमार यहाँ कैसे?"

कल्याण ने उत्तर न देकर पूछा—"तुम क्या कह रही थीं?"

"कहा, मैं तो कुछ नहीं कह रही थी?"

कल्याण ने गुस्से से पूछा—"क्या कहा? कुछ नहीं कह रही थीं। तुम राजकन्या के पवित्र हृदय पर दोषारोपण कर रही थीं! तुम्हें नहीं मालूम किसके निर्मल चित्त पर कलङ्क लगा रही थीं!" यह कहकर गुस्से से तलवार दिखाते हुए बोले—"तुम स्त्री हो, इसी से निस्तार पा सकोगी, और कोई होता तो अभी टुकड़े-टुकड़े कर देता।"

"राजकुमार! आप जब राजकुमारी को प्यार करते हैं, इस-

लिए नर-हत्या करने तक को तैयार हैं, तो क्या उसी प्रेम के लिए हृदय की ज्वाला से राज-कन्या की निन्दा करना भी मेरे लिए इतना बड़ा अपराध ?"

"उनकी निन्दा के साथ तुम्हारे प्रेम का क्या सम्पर्क है ?"

"मैं जिसे प्यार करती हूँ, वे भी उसे ही प्यार करती हैं। राज-कन्या ही मेरे प्रेम-पथ की कण्टक हैं।"

"वे भी उसे ही प्यार करती हैं !" कल्याण ने ज़रा हँसकर कहा—"चुप रहो ! तुम्हारा रत्न राज-कन्या के पैर से छूने लायक़ भी नहीं है। इस प्रकार की कलुषित कल्पना से क्षण-भर के लिए भी अपना मन मैला न करना।"

"राजकुमार ! कल्पना नहीं, मैंने अपने कानों से एक दिन राजकन्या और विजय का प्रेमालाप सुना है।"

"मैं तुम्हारी बात पर विश्वास नहीं कर सकता।"

"यदि मैं प्रमाण दे सकूँ, तो आप मेरा क्या उपकार करेंगे !" यह कहकर वह युवराज के पैरों पर लोट गयी। बोली—"युवराज ! इसी रास्ते सभा में जायँगे, यह जानकर आपको सुनाने के लिए ही मैंने ये बातें कही थीं। आप यदि इसका कोई उपाय न करेंगे तो कौन करेगा ?"

"तुम्हारी बात पर मुझे अभी भी विश्वास नहीं होना, लेकिन अगर तुम्हारी बात सच्ची हो तो मैं भरसक तुम्हारा उपकार करने की कोशिश करूँगा। पहले तुम अपना प्रमाण तो बताओ।"

"विजय की उँगली में आप उषा का नाम खुदी हुई एक अँगूठी देख पावेंगे, वह राजकुमारी का प्रेमोपहार है।"

"इससे क्या वे दोनों बचपन से एक साथ खेले-बढ़े हैं। सम्भव है, राजकुमारी ने भ्रातृ-भाव से वह अँगूठी उसे उपहार दी हो।"

"यदि ऐसी बात होगी तो आपके पूछने पर सहज ही वे स्वीकार कर लेंगे, और दूसरी कोई बात हुई तो छिपाने की कोशिश करेंगे"

"यदि राजकुमारी के अनजान में किसी बुरे अभिप्राय से विजय ने उनकी अँगूठी चुराली हो, तब भी तो वह मुझसे छिपाना चाहेगा। इसी बात के लिए क्या मैं राजकुमारी पर अविश्वास करूँ?"

"विजय को ऐसा करने की जरूरत क्या है?"

"यह मैं क्या जानूँ? लेकिन जब तक मैं अपनी आँखों से कुछ न देख लूँ, मैं किसी तरह इस बात पर विश्वास नहीं कर सकता।"

गुलाब ने क्रोध दिखाते हुए कहा—"यदि युवराज इस बात पर विश्वास नहीं करते तो, विवश होकर किसी-न-किसी दिन हमें यह सत्य आप पर प्रकाशित करना पड़ेगा, नहीं तो मैं स्वयं दोषी समझी जाऊँगी। आज तो मैं जा रही हूँ, किसी दिन सुविधा पाते ही युवराज को इस सत्य का प्रमाण देने की चेष्टा करूँगी।" यही कहकर गुलाब चली गयी।

युवराज के मन में आग जल उठी। वे न-जाने क्या-क्या सोचने लगे। मन-ही-मन उन्होंने कहा—"यह भी क्या कभी सम्भव हो सकता है? ऐसे पवित्र हृदय में इतना पाप ओट ही

नहीं सकता। मालूम होता है, गुलाब के साथ राजकुमारी की कुछ अनबन हो गयी है।·····और अगर सच ही हो ? उफ्, इस कल्पना से भी हृदय फटने लगता है। सच होने पर न जाने क्या हो जायगा ! हे सुख, तब इस जीवन के लिए तुम से बिदा होता हूँ। अब इसी युद्ध में इस जीवन का अवसान होगा।····· लेकिन, यह कभी सच नहीं हो सकता। अपनी आँखों से देखे बिना किसी तरह इस बात पर मैं विश्वास नहीं कर सकता। क्षण-भर के लिए भी यदि उस पवित्र हृदय के प्रति मेरे मन में सन्देह उत्पन्न हुआ हो तो इसके लिए मैं ही दोषी हूँ। निश्चय ही राजकुमारी के साथ गुलाब की कोई गहरी शत्रुता है।"

उनके मन में अब कोई सन्देह न रह गया। क्षण-भर के लिए तो कुछ मलिनता मन में आयी थी, वह शरत्काल के मेघ के समान शीघ्र ही उड़ गयी। प्रसन्न-चित्त से वह राज-सभा में आये पृथ्वीराज ने उसी दिन उन्हें सेनापति के पद पर नियुक्त कर दिया। सभा में आकर दिलीप को देखते ही वे बड़े विस्मय में पड़ गये। दिलीप का चेहरा समरसिंह से बहुत मिलता जुलता था इसलिए या अन्य किसी कारण से दिलीप के प्रति उनके मन में बड़ा स्नेह उत्पन्न हो गया। क्रमशः दोनों में बड़ी बन्धुता उत्पन्न होगयी।

कदाचित् हमारे पाठकों ने यह बात समझ ली होगी कि उक्त घटना विजय के षड्यन्त्र से ही हुई थी और उसने ही गुलाब को अपने प्रेम के झूटे सपने दिखाकर उसके द्वारा अँगूठी चुरवा ली थी और यह जाल फैलाया था।

[१५]

दिल्ली में लड़ाई की घमासान तैयारियाँ हो रही हैं। सब लोग लड़ाई की तैयारियों में व्यस्त हैं। कुमार कल्याणसिंह अपनी सेना को सजाने और तैयार करने में लगे हुए हैं। ऊपर जिस घटना का उल्लेख किया गया है, उसके बाद एक दिन के लिए भी उन्हें राजकुमारी से मिलने का मौक़ा नहीं मिल सका। आज वे दिलीपसिंह के ऊपर थोड़ी देर के लिए सेना का भार देकर राजकुमारी के पास जाना चाहते हैं।

दिलीप कल्याण के अधीनस्थ पैदल सेना के नायक हैं। अभी-अभी सेना की क़वायद कराकर वे वापस आये हैं, और अपने अस्त्र-शस्त्र उतारकर रख रहे हैं। उन्होंने अपनी ढाल उतारकर खूँटी पर टाँगी, लेकिन वह नीचे रक्खी हुई एक पेटी पर आगयी। ढाल उठाने के लिये वे झुके ही थे कि उन्हें एक बात याद आगयी। सन्यासी ने मरते समय कहा था कि जो वस्त्र पहने हुए दिलीप डूबे थे, उनसे उनके वंश का पता चलेगा। वे वस्त्र इसी पेटी में बन्द थे, पर दिल्ली आने के बाद से बराबर युद्ध का प्रसंग चलते रहने के कारण वे इस बात को प्रायः भूल-से गये थे। आज सहसा उसकी याद आजाने के कारण उन्होंने पेटी खोलकर देखना चाहा। ढाल को यथास्थान रखकर कौतूहल से उन्होंने

पेटी खोलकर कपड़े निकाल लिये। बार-बार उन्हें उलटकर देखा, किन्तु बार-बार देखने पर भी उन्हें कुछ पता न चला। अन्त में निराश होकर उन्होंने उन कपड़ों को एक ओर फेंक दिया। फेंकते ही उसमें से काग़ज़ के दो-तीन टुकड़े निकालकर इधर-उधर बिखर गये। उनका हृदय प्रसन्नता से नाच उठा। उन्होंने समझा, शायद इन्हीं में उनका परिचय मिल सकेगा। उन्होंने झटपट काग़ज़ उठा लिये और एक टुकड़ा लेकर पढ़ने लगे—

"महामहिम प्रबल प्रतापी—कुमार तेजसिंह महिमार्गवेषु—

आपके भतीजे महाराज जयचन्द आपकी उस बात से नाराज़ होकर अनिष्ट करने की चेष्टा में हैं। सावधान रहिएगा।

आपका शुभाकांक्षी, श्री—"

यह क्या? इसका क्या अभिप्राय? दिलीप ने इस पत्र में जो-कुछ पाने की आशा की थी, वह तो उन्हें मिला नहीं। बहुत अधीर होकर उन्होंने दूसरा टुकड़ा उठा लिया। पढ़ा—

"महामहिम प्रबल प्रतापी·····तेजसिंह·····जयचन्द्र का क्रोध अब भी दूर नहीं हुआ। वे आपको निर्वासित करना चाहते हैं। आप यदि जयचन्द्र के क्रोध के समय·····इच्छा·····तो अपनी कन्या शैलबाला को मेरे पास रखकर आप कहीं भाग जाइये। श्री·····"

शैलबाला का नाम पढ़कर दिलीप चौंक उठे। उन्हें याद आया कि जिस दिन सन्यासी अपने साथ शैलबाला और उसके पिता को ले आये थे, उस दिन उनके हाथ में यही काग़ज़ के टुकड़े

दिलीप ने देखे थे। शैलबाला के पिता ने जब उन टुकड़ों को पानी में फेंक दिया, तभी सन्यासी ने उन्हें ले लिया था और सोचा था कि आज वैराग्य के कारण जिस वस्तु को ये फेंक रहे हैं, सम्भव है, आगे उससे उन्हीं का कुछ उपकार हो सके। किन्तु सन्यासी ने कदाचित इन टुकड़ों को पढ़ा नहीं था, क्योंकि मरते समय इस सम्बन्ध में उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। दिलीप ने आत्म-परिचय ढूँढने जाकर शैलबाला का परिचय पाया, और प्रसन्नता तथा विषाद से वे मुह्यमान-से होगये। उन्होंने सोचा—"अज्ञात-कुल-शीला शैलबाला तब क्या कुमार तेजसिंह की कन्या है ? राज-वंशीय शैलबाला को पाने की आशा अब क्या उनके लिये दुराशा-मात्र नहीं है ? दिलीप मन-ही-मन इसी प्रकार तर्क-वितर्क कर रहे थे, इसी समय कल्याण वहाँ आ उपस्थित हुए। कल्याण को देखकर दिलीप ने झटपट वे काग़ज़ छिपा लिये। घर में घुसते ही कल्याण की नज़र जमीन पर पड़े हुए उन कपड़ों पर पड़ी। यहाँ पर राज-परिच्छद देखकर उनको आश्चर्य हुआ। पगली जब किरण को चुरा ले गयी थी, उस समय कल्याण केवल छः-सात वर्ष के थे। उस समय की बात कल्याण को प्रायः कुछ भी याद न थी। बड़े होने पर उन्होंने सभी बातें सुनी थीं। लेकिन उन कपड़ों को देखकर उन्हें ऐसा मालूम हुआ, मानो उन्हें उन्होंने कहीं देखा है। उन्होंने दिलीप से पूछा—"ये किसके कपड़े हैं ?"

"सुना है, मेरे बचपन के हैं।"

"तुमने यह राज-परिच्छद कहाँ पाया ? मुझे ऐसा जान

पड़ता है, मानो मैंने इन्हें पहले कहीं देखा है। इसके सिवा तुम्हारे लिए मेरे मन में एक और सन्देह उठता है। जो हो, आज तुम्हारे बचपन के कपड़े ज़मीन पर क्यों पड़े हैं ?"

"सन्यासी ने कहा था, इन्हीं कपड़ों से हमारे वंश का पता चलेगा, इसी से इन्हें देख रहा था। कुछ पता न पाने पर ग़ुस्से से फेंक दिया है।"

कल्याण ध्यान देकर दिलीप की बातें सुनते रहे। उन्हें दिलीप के बारे में जो-कुछ मालूम हुआ था, उससे उनके मन में यह सन्देह हो रहा था कि दिलीप ही किरण है। वह सन्देह उत्तरोत्तर दृढ़ ही होता जा रहा है, पर जब तक इस बात का कोई पूरा प्रमाण न मिल जाय, वह अपने मन की यह बात प्रकाशित नहीं होने देना चाहते; क्योंकि अन्त में यदि दिलीप का किरण होना प्रमाणित नहीं हो सका तो समरसिंह के मन को बड़ा कष्ट होगा। कल्याण ने कहा—"तुमने तो कहा था कि तुम्हारे कवच में तुम्हारा असली नाम लिखा हुआ है, मरते समय सन्यासी ने यह बात कही थी। वह कवच कहाँ है ?"

"काम-धाम से फ़ुर्सत नहीं मिली कि उसे देखूँ। फिर कभी देख लिया जायगा।"

दिलीप यह नहीं चाहते थे कि कल्याण यहाँ अधिक देर तक ठहरें, क्योंकि उन पत्रों में उनका जो अटका हुआ था। वे चाहते थे कि कब कल्याण जाँय, और कब वे उन पत्रों को फिर देखें कि शैलबाला के बारे में उनसे और कुछ और मालूम हो सकता

है या नहीं। इसी से उनहोंने कवच की बात भी इस वक्त टाल दी कि फिर कहीं कल्याण और देर न लगा दें। इधर कल्याण भी देर तक न ठहरना चाहते थे; क्योंकि उन्हें राजकुमारी से मिलने की जल्दी थी। दोनों ही का मन दो भिन्न दिशाओं में अटका हुआ था, फलतः झटपट काम की बातें दिलीप से कहकर युवराज चले गये। दिलीप फिर उन काग़ज़ के टुकड़ों को जोड़-जोड़कर पढ़ने लगे। सब को पढ़ लेने पर उन्हें यह मालूम हुआ कि शैलबाला के पिता, क़नौज के राजा जयचन्द्र के चाचा थे। जयचन्द्र किसी कारण से उन पर नाराज़ हो गया था और उन्हें राज्य से निकाल देना चाहता था, इसी लज्जा से कन्या को साथ लेकर वे छिपे-छिपे फिरते थे। दिलीप पत्रों को बार-बार पढ़ने लगे। पढ़ते-पढ़ते उनकी आँखें भर आयीं। बचपन के वे दिन याद आये, जो शैलबाला के साथ बाल्य-क्रीड़ा में व्यतीत हुए थे। वे मनोवेग सम्वरण करने के लिए बार-बार पत्रों को पढ़ने लगे, लेकिन यह न समझ सके कि जयचन्द्र के साथ उनके चाचा की अनबन का क्या कारण था।

इधर दिलीप की बात सोचते-सोचते कल्याण जब राजकुमारी के महल में पहुँचे तो दरवाज़े पर गुलाब मिली। उसे देखकर उन्हें एक बात याद आगयी। उन्होंने गर्व से पूछा—"क्यों, राजकुमारी की दुश्चरित्रता का प्रमाण तो तुम ख़ूब दे सकीं!"

गुलाब ने कहा—"आप हमें इस तरह ताना न दीजिए। मुझे कुछ न दिखाना पड़ेगा—सत्य अपनी सचाई स्वयं ही प्रकाशित

कर देगा। ऐसा न होता तो आज आप यहाँ आते ही क्यों? आज यहाँ विजय आनेवाले हैं। मैं आपके आने की बात उन्हें न बताऊँगी, तब वे स्वयं ही कमरे में जायँगे।"

गुलाब की बातों से राजकुमार का हृदय विचलित हो उठा। यमुना-स्तम्भ पर विजय का नाम सुनते ही राजकुमारी का जो भावान्तर हुआ था, वह कल्याण को याद आया। बार-बार की रगड़ से काठ में आग पैदा हो जाय, तो आश्चर्य क्या है? कल्याण ने मन-ही-मन कहा—"गुलाब जो कहती है, वह क्या सच ही है? उस दिन क्या इसीलिए मेरे सामने विजय का नाम सुनकर उषावती चौंक उठी थी?" उन्होंने गुलाब से कहा—"तुम जो कह रही हो, वह यदि सच हो, यदि सचमुच ही इस समय विजय राजकुमारी के कमरे में आवे तो कदाचित् मैं तुम्हारी बात पर विश्वास कर लूँ!" कल्याण ने यह कहकर राजकन्या के कमरे में प्रवेश किया। देखा—राजकुमारी दोनों हाथों से मुँह छिपाये पलँग पर लेटी हुई हैं। राजकुमार चुपचाप उनके पास चलेगये और खड़े-खड़े राज-कन्या का अटल सौन्दर्य देखने लगे। क्षण-भर के लिए राजकन्या के प्रति उनके मन में सन्देह उत्पन्न हुआ था, इसलिए वे अपने-आप को धिक्कार देने लगे। अपने ही आप उन्होंने कहा—"छिः! मैं कैसा पापी हूँ!" राजपुत्र की आवाज सुनकर कुमारी ने मुँह पर से हाथ हटाया। युवराज को देखकर पलँग पर उठ बैठीं। युवराज ने देखा, वे रो रही हैं। जिस किसी ने देखा हो, वह जानता होगा कि निःशब्द रोदन से सुन्दरी

रमणी का मुँह कितना मनोहर हो जाता है। उषावती के स्फीत आरक्तिम नयन-पल्लव तीहारसिक्त गुलाब के समान वारि-विन्दु से आर्द्र हो उठते हैं;—जब आँखों में नहीं अँटते तो बहकर गालों पर ढरक आते हैं, मानो कोई मनोहर झरना चुपचाप गिर रहा हो। उनका चिकना केश-जाल इधर-उधर बिखरा हुआ है, कहीं-कहीं आँसू से भीग गया है। उनकी स्पन्दनहीन और अश्रु सिक्त आँखें झुकी हुई थीं, शरीर स्तम्भित था, ओठ मुँदे हुए थे, पर बीच-बीच में ज़रा स्पन्दित हो उठते थे। वह रूप देखकर राज-कुमार मोहित होगये। उन्हें मालूम हुआ, मानो राजकुमारी इतनी सुन्दर कभी नहीं दीख पड़ी थीं। थोड़ी देर बाद उन्होंने मुग्ध की तरह कहा—"उषा रोती क्यों हो?"

राजकन्या ने अश्रुसिक्त आँखों से एक बार उनकी ओर देखा, किन्तु बोलीं नहीं। उन्होंने फिर पूछा, किन्तु इस बार भी उनके मुँह से आवाज न निकली। आरक्तिम नयन-युगल अपने-आप ही झुक पड़े—विषण्ण मुँह लज्जा से आरक्त हो उठा। राजकुमार ने आदर-अभिमान-भरे स्वर में फिर पूछा—"राजकुमारी, क्या हुआ है, मुझे न बताओगी?" इस बार राजकुमारी ने कुछ कहना चाहा, पर आवाज न निकली, कुछ कह न सकीं। वे किस लिए रो रही है, यह कहने में क्यों उन्हें इतनी लज्जा हो रही है, यह वे स्वयं न समझ सकीं। तब प्रेम-भरे स्वर में मीठी-मीठी बातें करते हुए, राजकुमारी का हाथ पकड़कर कल्याण समीप-वर्ती श्वेत प्रस्तर-मण्डित एक बारान्दे में गये। इसी समय सहसा

एक पुरुष राजकन्या के कमरे के दरवाजे तक आकर और कल्याण को देखकर झटपट वापस लौट गया। राजकुमार ने विजय को पहचाना। राख से ढकी हुई चिनगारी धू-धू करके जहक उठी। सारा संसार मानो उनके चारों ओर प्रलय-विप्लव से आलोड़ित हो उठा। क्रोध के कारण चेहरा भयानक होगया। उन्होंने वेग से राजकन्या का हाथ छोड़ दिया। राजकन्या अपने दुःख में व्यस्त रहने के कारण विजय को न देख सकी थीं। हठात् राजकुमार का यह भाव देखकर उनको आश्चर्य हुआ। अब तक उन्होंने कल्याण के मुँह की ओर न देखा था, इस बार देखकर वे डर गयीं। कल्याण ने कहा—"पापिनी! तुम क्यों रो रही थीं! हाय! मैं कैसा मूर्ख हूँ कि मैं समझ रहा था कि तुम मेरे लिए रो रही हो।" इस बार उषावती बोले बिना न रह सकीं। उन्होंने कहा—"मैं क्या तुम्हारे ही लिए नहीं रो रही थी?"

"दुश्चरित्राओं के लिए कपट तो अलङ्कार है। तुम मेरे लिए रो रही थीं? इसीलिए शायद उस दिन विजय का नाम सुनकर तुम चौंक उठी थीं!"

"मैं दुश्चरित्रा हूँ? यह बात तुम्हारे मुँह से निकली और इसे सुनकर भी मैं जीती हूँ?" राजकुमारी पर वज्रपात हुआ। कल्याण उनपर सन्देह कर रहे हैं, यह तो वे समझ गयीं, पर यह न समझ सकीं कि इसका कारण क्या है?

राजकुमार ने कहा—"हाँ, तुम सती हो! इसी से तुमने प्रेमोपहार के रूप में विजय को अपनी अँगूठी दी थी? तुम सती हो,

इसी से उससे प्रेम करते हुए भी मुझे पति-रूप में वरण करने को तैयार हो रही थीं ? पापिनी ! तुम केवल दुश्चरित्रा होकर ही तृप्त नहीं हुईं, तुमने अपने कपट-जाल में मुझे भी बाँध लिया है। तुम दुश्चरित्रा हो, यह जानकर भी मैं वह बन्धन नहीं तोड़ पा रहा हूँ। हाय ! मैं पागल हो रहा था, गुलाब की बात पर विश्वास नहीं करता था, और अपनी आँखों न देखता तो शायद विश्वास करता भी नहीं।"

राजपुत्र की बातों से आश्चर्य-चकित होकर राजकुमारी कहने जा रही थीं कि तुमने अपनी आँखों से क्या देखा है—और कब मैं ने अँगूठी विजय को दी है ? लेकिन राजकुमार ने उन्हें अधिक बोलने नहीं दिया। कहा —"हुआ,हुआ—जो कह चुकी हो, वही बहुत है। और झूठ बोलकर पाप बढ़ाने की जरूरत न पड़ेगी। आँखों से न देख लेता तो तुम्हारी बात पर विश्वास न करता। मैं तुम्हें कुछ न कहूँगा। तुम्हारा हृदय ही तुम्हें नरक-यन्त्रणा देगा। मैं तो चला—युद्ध में प्राण त्याग करने चला। सुख की विदा लेने आया था, अब इस जीवन के लिए विदा लेता हूँ। तुम्हें कभी-न-कभी इसका फल भोगना ही पड़ेगा। यदि मन में डर हो तो अनुताप करो, प्रायश्चित करो।" यही कहकर राजपुत्र तेजी से बराम्दे से चले गये। अब तक राजकुमारी चुपचाप रो रही थीं,अब और सहन न कर सकीं,और मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ीं। गुलाब अब तक दरवाजे पर छिपी-छिपी सब देख रही थी। राजकन्या को गिरते देख, उसका हृदय अनुताप से भर

गया। उसकी इच्छा हुई कि दौड़कर वह कल्याण से सारी बातें कह दे; पर तब तक वे दूर निकल गये थे। उसने जाकर राजकुमारी को होश में लाने का प्रयत्न किया। क्षण-भर के लिए राजकुमारी को होश हुआ, किन्तु शीघ्र ही वे फिर मूर्च्छित हो गयीं। तब गुलाब ने एक दासी के द्वारा महारानी के पास यह खबर भेजी और स्वयं राजकुमारी को उठाकर पलँग पर ले आयी। राजकुमारी को उठाने पर उसने देखा कि जमीन पर गिरने के कारण उनके सिर में गहरी चोट आयी है, और उससे खून निकल रहा है। घाव धोकर गुलाब ने राजकुमारी को पलँग पर ला-सुलाया।

इधर खबर पाकर महारानी राजकन्या के कमरे में दौड़ी आयीं। उषावती उनकी एक-मात्र कन्या थीं। उन्हें पलँग पर बेहोश पड़ी देखकर वे बहुत घबरा गयीं। पूछने पर गुलाब ने कुछ भी उत्तर न दिया। सभी दासियाँ अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार कारण ढूँढ़ने लगीं। अन्त में सब ने कहा—"आज कल्याण यहाँ आये थे। उनसे युद्ध के बारे में बात-चीत हुई होगी और उनके चले जाने पर उसी सम्बन्ध की बातें सोचते रहने के कारण मूर्च्छा आगयी होगी।"

सब को यह बात ठीक जान पड़ी। महारानी को भी इसके सिवा दूसरा कोई कारण न सूझ पड़ा। उन्होंने शीघ्र ही राजवैद्य को बुलवाया। वैद्य ने आकर परीक्षा की। कहा—"मस्तक में गहरी चोट आने के कारण ही मूर्च्छा दूर नहीं हो रही है, और इसी से ज्वर भी होगया है। मस्तक की जो हालत दीख पड़ती

है, उसके साङ्घातिक होने का भय है। मैं अकेले चिकित्सा करने का साहस नहीं कर सकता।"

सिर में लगाने के लिए लेप का नुस्खा लिखकर वैद्यजी अन्य चिकित्सकों को लाने के लिए चले गये। महारानी रोने लगीं। उन्हें कदाचित् इस एकलौती बेटी से भी हाथ धोना पड़ेगा। वे खाना-सोना छोड़कर कन्या की सुश्रूषा करने लगीं।

[११]

घर लौटकर कल्याण शीघ्र मृत्यु का उपाय सोचने लगे। अब उन्हें जीवन अत्यन्त असह्य था। किन्तु मृत्यु का अन्य कोई सम्मानजनक उपाय न देखकर अन्त में युद्ध तक प्राण-रक्षा करने के लिए वे बाध्य हुए।

इस प्रकार मृत्यु का उपाय निश्चित कर लेने के बाद उन्हें एक-एक करके न-जाने कितनी मधुर-स्मृतियाँ विकल करने लगीं। पिता, माता [विमाता], और प्यारी चित्तौड़-नगरी उनकी आँखों के सामने आ-खड़े हुए। कल्याण बचपन से मातृहीन थे, किन्तु उनकी स्नेहमयी विमाता कमलदेवी ने कभी उन्हें माँ का अभाव नहीं मालूम होने दिया। उन्हें स्नेहमयी माँ की याद आयी; पुत्र-वत्सल पिता की याद आयी, जो उन्हीं का मुँह देखकर किसी तरह जीवन धारण किये हुए हैं। जब वे चित्तौड़ से चले थे, तब किसने

सोचा था कि उन्हें इस प्रकार भग्न-हृदय से प्राण-त्याग करना पड़ेगा ? और यही किसने सोचा था कि युद्ध में इनकी मृत्यु होगी ? उन्होंने सोचा था कि युद्ध में यवनों को पराजित करके जयनाद के मध्य में वे दिल्ली लौटेंगे, और उषावती को अर्द्धाङ्गिनी के रूप में पाकर चित्तौर-यात्रा करेंगे। आज उनकी सारी आशाएँ निर्मूल होगयीं। किन्तु, उनके मृत्यु-पथ में भी एक बड़ा विघ्न था—उनके पिता। उनकी मृत्यु से पिता की क्या अवस्था होगी, यह सोच-सोचकर वे विकल होने लगे। उन्हें यह भी ध्यान आया कि मेरे न रहने पर चित्तौड़ का अधिपति कौन होगा ? अन्य दो भाइयों को पिता राज्य के उपयुक्त नहीं समझते, यह बात कल्याण जानते थे, तब चित्तौड़ का क्या होगा ? यही सब सोचने-सोचते उसके ध्यान में आया कि आज किरण जीवित होता तो मुझे मरने में कोई कठिनाई न होती। मैं सुख से मर सकता। किरण की स्मृति के साथ ही दिलीप और उसके कवच की याद आयी। उन्होंने सोचा कि दिलीप के पास चलकर कवच देख आवें। इसी समय दिलीप स्वयं ही इसके कमरे में आगये। कल्याण ने कहा—"दिलीप ! मैं अभी तुम्हारे ही पास आ रहा था। वह कवच देखने के लिए मेरे मन में बड़ा कौतूहल हो रहा है।"

दिलीप ने कहा—"मैं भी और किसी काम से नहीं, आपको कवच दिखलाने के लिए ही आया हूँ।" दिलीप ने गले से उतार-कर स्वर्णहार-युक्त कवच कल्याण के हाथ में दिया। कवच में

लिखा हुआ नाम पढ़कर कल्याण आश्चर्य में पड़ गये। उन्होंने सुना था कि किरण के गले में उसका नामाङ्कित कवच पड़ा रहता था, और इसीलिए दिलीप का कवच देखने के लिए वे इतने उत्सुक हो रहे थे। उन्होंने अपना आश्चर्य दिलीप पर प्रकट न करके पूछा—"यह कवच सन्यासी ने कहाँ पाया था ?"

"मेरे गले में।"

"अच्छा, सन्यासी ने तुम्हें कहाँ पाया था—यह तुम जानते हो ?"

"उन्होंने कहा था चित्तौड़ में।"

"चित्तौड़ में ····?"

"हाँ।"

"उसके बाद ? इस बारे में उनसे तुमने और क्या-क्या सुना है ? मुझे सब बतलाओ।"

दिलीप ने एक-एक करके वे सारी बातें कल्याण को सुना दीं, जो मृत्यु के समय सन्यासी से सुनी थीं। कल्याण अब अधिक समय तक अपने मन का आनन्द छिपा न सके। दिलीप ही किरणसिंह हैं, इस बात में अब उन्हें ज़रा भी सन्देह न रह गया। उन्होंने कहा—"इतने दिनों तक मैं मन-ही-मन जो सन्देह कर रहा था, वह आज सच निकला। सचमुच ही मेरा यह प्रिय सखा दिलीप मेरा छोटा भाई है। आओ, एक बार जी भरकर तुम्हें गले लगा लूँ।"

कल्याण ने प्रेमपूर्वक दिलीप को गले से लगाकर अन्त में

विस्तारपूर्वक उनके जीवन की कहानी उन्हें सुनायी। दिलीप आत्म-परिचय पाकर प्रसन्नता की अधिकता से मूक होगये। उन्होंने पुनः कल्याण को गले से लगा लिया। कल्याण ने कहा—"एक क्षण पहले मैं किरणसिंह की पुनः-प्राप्ति के लिए व्याकुल हो रहा था, इसीलिए देवी चतुर्भुजा ने मेरी मनोकामना पूरी कर दी। मैं सोचता था, मेरे मर जाने पर चित्तौड़ का क्या होगा, पिता का शोक-निवारण कौन करेगा? इसी से चतुर्भुजा ने मेरे पास तुम्हें भेजकर मेरी चिन्ताएँ दूर कर दीं। अब मैं निश्चिन्त होकर मर सकूँगा।"

कल्याण की बात सुनकर दिलीप को अत्यन्त आश्चर्य हुआ।

कल्याण ने कहा—"मेरी बातें सुनकर अचरज मत करो। जो कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो। पिता की मृत्यु के बाद राज्य का अधिकारी मैं हूँ, यह बात कदाचित् तुम जानते हो। आज अपना वह अधिकार मैं तुम्हें देता हूँ, आज से तुम चित्तौड़ के युवराज हो, भविष्य में तुम्हीं राजसिंहासन के अधिकारी होओगे।"

कल्याण की बातों का अर्थ दिलीप न समझ सके। उन्होंने मन-ही-मन सोचा कि युवराज क्या मेरी हँसी कर रहे हैं या परीक्षा ले रहे हैं? पर उनके गम्भीर अथच विषादपूर्ण मुँह की ओर देखने पर उनका यह सन्देह जाता रहा। उन्होंने सोचा कि कल्याण मन की किसी गम्भीर वेदना के कारण ऐसा कह रहे हैं। अपने-आप ही वे बोल उठे—"नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता—भगवती, यह स्वप्न—"

कल्याण ने गम्भीर स्वर में कहा—"भाई ! स्वप्न नहीं। मैं सचमुच ही मरूँगा।"

दिलीप चौंक पड़े। मन की बात मन ही में मिल गई। कल्याण ने कहा—"अचरज न करो, मैं युद्ध में मरूँगा। तुम चित्तौड़ चले जाओ, युद्ध में न रहना। क्योंकि युद्ध में यदि हम दोनों ही की मृत्यु हो गयी तो पिता की क्या दशा होगी—और चित्तौड़ का क्या होगा ?"

इस बार किरणसिंह ने सोचा कि शायद युद्ध में मृत्यु हो जाय, इसी भय ने आज कल्याण को इतना विचलित कर दिया है। उन्होंने आश्चर्य से कहा—"यदि आप ऐसा सोचते हैं, तो आप ही चित्तौड़ चले जाइये। मैं ही युद्ध में रहूँगा।—लेकिन आज आपको मृत्यु से भय क्यों मालूम होता है ? आपके समान वीर पुरुष के निकट यह चिन्ता क्यों ?"

"नहीं, मैं मृत्यु-भय नहीं करता, मृत्यु-कामना करता हूँ।"

"क्या—युवराज कल्याण आज मृत्यु-कामना कर रहे हैं ? जो पिता के स्नेह से परम सुखी हैं, जिनका नाम सुनकर प्रजा आह्लाद से उन्मत्त हो जाती है, शौर्य-वीर्य में जो जगत् से प्रशंसनीय हैं, संसार में जिनके निकट कोई अभाव नहीं है, जो सब प्रकार सुखी हैं, उन्हें आज जीवन से वैराग्य उपस्थित हो रहा है—क्या आप मुझे इस बात पर विश्वास करने को कहते हैं ? युवराज, ऐसी बात कहकर आप मेरे हृदय को और व्यथित न कीजिए।"

"यदि तुम मुझे ज़रा भी चाहते हो, तो मेरे जीवन की कामना न करो। मरकर ही मैं सुखी हो सकूँगा। किरणसिंह, आज राह का एक भिखारी भी मुझसे ज्यादा सुखी है। कल तक मैं सुखी था, तुम मुझे सुखी कह सकते थे, लेकिन आज से मुझे कोई सुखी नहीं कह सकता।"

इतना कहकर कल्याण चुप होगये। आँखों से दो बूँद आँसू टपक पड़े। किसी तरह वह आवेग रोककर। उन्होंने कहा—"तुमने क्या कभी किसी को प्यार किया है? यदि प्रेम में कभी तुम्हें निराशा हुई हो, तब शायद तुम मेरे कष्ट की कुछ कल्पना कर सको, लेकिन मैं देवी आशापूर्णा से प्रार्थना करता हूँ कि ऐसा कष्ट किसी शत्रु को भी न मिले।"

उस वीर की आँखों से आँसू गिरते देखकर किरणसिंह का हृदय बहुत व्यथित हुआ। उन्होंने सोचा कि नितान्त गम्भीर दुःख के बिना कल्याण के हृदय की यह दुर्बलता प्रकाशित नहीं हो सकती थी। उन्होंने कहा—"प्रेम करके आप किस प्रकार निराश हुए? महाराज तो आपको ही जामाता बनावेंगे। तो क्या राजकन्या आपकी असली प्रेम-पात्री नहीं हैं?"

कल्याण ने भग्न-हृदय से कहा—"हाँ, वही पापिनी मेरी असली प्रणयिनी है। विश्वासघातिनी जानकर भी मैं उसे भूल नहीं पाता हूँ।"

दिलीप ने आश्चर्य से कहा—"क्या? राजकुमारी विश्वास-घातिनी हैं? यह आपने कैसे सम्भव मान लिया?"

इस प्रश्न से राजकुमार का रक्त फिर खौल उठा। बड़े कष्ट से अब तक उन्होंने किसी तरह हृदय को शान्त किया था, अब उसे सँभाल न सके। बोल उठे—"हाँ, हाँ, वही पाहिनी, वही विश्वासघातिनी, वही दुराचारिणी—लेकिन नहीं, ज्ञानशून्य होकर मैं किसका नाम ले रहा हूँ? उसका नाम उच्चारण करने से भी जीभ कलङ्कित होती है। अब नहीं—अब उसका नाम न लेना।"

दिलीप को आश्चर्य हुआ, हृदय में दारुण व्यथा हुई। यह तो वे समझ गये कि राज्यकन्या ने किसी कारण से इनके हृदय में गहरा आघात लगाया है, पर और कुछ पूछने का साहस न कर सके। उन्होंने अत्यन्त कातर होकर बार-बार कल्याण को समझाया कि आप मरने का विचार छोड़ दें, किन्तु जब किसी प्रकार वे कल्याण का मन न बदल सके तो उच्छ्वसित हृदय से कह उठे—"भगवान आपको शान्ति दें, आपकी रक्षा करें।" कल्याण के ओठों पर गम्भीर अविश्वास की हँसी दीख पड़ी। उन्होंने कहा—"अब मेरी शान्ति केवल तुम्हारी बात पर है। भाई, यदि तुम चित्तौड़ जाने को राजी होजाओ, तभी मेरे मन को असली शान्ति मिल सकेगी।" किरण के हृदय में मानो खून जम गया। उन्होंने रुद्ध-श्वांस से कहा—"तब यही हो। भगवान् आपको शान्ति दें, आपकी रक्षा करें।" कुछ देर तक दोनों ही चुप रहे। थोड़ी देर बाद किरणसिंह एकाएक बोल उठे—"मैं कविचन्द्र के उद्धार के लिए जाना चाहता था।"

"इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। तुम युद्ध के समय यहाँ न रहो, यही मेरी इच्छा है। तुम प्रजावत्सल और दीर्घजीवी होकर सुखपूर्वक राज्य करते हो, और तुम्हें पाकर पिताजी प्रसन्न हैं, जानकर मैं सुखपूर्वक मर सकूँगा। .....तो, यह हम लोगों का अन्तिम मिलन है।"

कल्याण फिर एक बार स्नेह-भरे हृदय से दिलीप को गले लगाकर विदा हुए। दिलीप आँसू-भरी आँखों से शून्य की ओर ताकते चुपचाप खड़े रहे, और उनकी अन्तिम बातों के उत्तर में अपने-ही-आप बोल उठे—"भगवान करे, ऐसा न हो।"

---

[१७]

महाराज समरसिंह ने उसी दिन कल्याण के मुँह से अपने खोये हुए पुत्र किरणसिंह की पुनः-प्राप्ति का सम्वाद पाया। बहुत दिनों के बाद आज सहसा उन योगीन्द्र के मुखमण्डल पर आनन्द विभासित हो उठा। किरण को बुलाने की आज्ञा देकर कम्पित कलेवर और आनन्दित हृदय से वे उनकी प्रतीक्षा करने लगे। दिलीप के आने पर समरसिंह स्थिर नेत्रों से उनकी ओर देखते रह गये। वे आत्म-विस्मृत होगये, मुँह से आवाज न

निकली; नीरव,स्पन्दनहीन नेत्रों से, प्रस्तर-मूर्ति की तरह चुपचाप खड़े रहे।

यह क्या ? यह दिलीप ही क्या उनका किरणसिंह है ? यही क्या वह उनका खोया हुआ बच्चा है ? इसीलिये क्या दिलीप को पहले-पहल देखते ही उन्हें किरण की याद आयी थी ? इसी-लिए क्या इसे देखते ही उनके मन में सन्तान-स्नेह उत्पन्न हुआ था ? यह सुन्दर युवक क्या सचमुच ही उनका किरण है ? उनका तीन वर्ष का बच्चा क्या सचमुच ही अब इतना बड़ा हो गया है ? दिलीप को देखकर उनके मन में ऐसा ही चिन्ता-स्रोत उच्छ्वसित होने लगा। उन्हें निस्तब्ध देखकर कल्याण ने किरण के आगमन का सारा इतिहास धीरे-धीरे बतला दिया। अब समरसिंह का ध्यान भङ्ग हुआ। इतने दिनों से जिस दुःख से उनका हृदय टूट-सा रहा था, वह आज दूर हुआ। वह गम्भीर राजर्षि भी आज क्षण-भर के लिए आनन्द से अभिभूत होगये। मानव-हृदय की दुर्बलता वे छिपा न सके, उन्होंने बारम्बार पुत्र का मुख-चुम्बन किया; गले से लगाकर गोद में बैठा लिया। आनन्दाश्रु से उनके कपोल भीग गये। उन्हें कितना आनन्द हुआ, यह वर्णन करके बताया नहीं जा सकता। अन्त में अनेक प्रकार की बातों के बाद कल्याण ने युद्ध के पहले ही दिलीप को चित्तौड़ भेज देने का प्रस्ताव किया। उन्होंने कहा—"किरण को अभी अच्छी तरह से अस्त्र-शिक्षा नहीं मिली। युद्ध में इन का रहना ठीक नहीं है। इन्हें चित्तौड़ भेज दीजिये। यदि युद्ध में

इन दोनों ही की मृत्यु होगयी, तो आपको बड़ा कष्ट होगा और चित्तौड़ का राजा भी कौन होगा ? किरण को चित्तौड़ भेज देने से यह भय जाता रहेगा।" यह बात समरसिंह के जी में बैठ गयी। किरण को शीघ्र ही चित्तौड़ भेज देने का निश्चय हुआ।

किरणसिंह ने चित्तौड़ जाने से पहले कविचन्द्रने उद्धार के लिए समरसिंह की आज्ञा माँगी। कल्याण के समझाने पर समरसिंह ने इसमें आपत्ति न की।

दिल्ली आने के बाद से अनेक कामों में लगे रहने पर भी किरण शैलबाला को भूल न सके थे। कब युद्ध खत्म हो, और कब वे शैलबाला की खोज-खबर लेने अजमेर जायँ, यही चिन्ता हमेशा उन्हें लगी रहती थी। सब के दिन बीतते थे, किरण के दिन काटे नहीं कटते। शैलबाला की याद आते ही उन्हें न-जाने कितनी बातें याद आती थीं। बचपन के वे दिन, जब वे शैल-बाला के साथ पर्वत-पर्वत पर खेलते-फिरते थे, उनकी आँखों के सामने नाच उठते थे। इन बातों को सोचते-सोचते उन्हें ऐसा मालूम होता, मानो वे उस समय के दिलीप बनकर शैलबाला के साथ खेल रहे हैं। पर सहसा उनका मोह दूर हो जाता—शैल-बाला कहाँ है ? वे अकेले बैठे हुए हैं। शैलबाला यहाँ नहीं, अज-मेर में है। यदि अविवाहिता ही हो तो क्या उसे दिलीप की याद होगी ? राजवंशीया शैलबाला क्या अज्ञातकुलशील दिलीप को अब तक याद रखेगी ? अट्टालिकावासिनी शैलबाला अब क्या उस कुटीरवासी दिलीप से विवाह करना पसन्द करेगी ? तब

उनके मन में यह दुराशा क्यों है ? वे अजमेर से अपना मन हटा क्यों नहीं सकते ? बचपन की बात याद करके जितना हर्ष होता, इन सब बातों को सोचकर वे उतने ही दुखी हो जाते थे। आज अपना परिचय पाकर वह चिन्ता बहुत-कुछ दूर हुई। मन में आशा का सञ्चार हुआ। मन-ही मन उन्होंने सोचा, यदि शैलबाला का विवाह न हुआ होगा तो मेरा परिचय पाने पर उसके इन्कार करने का कोई कारण नहीं है। और, यदि विवाह होगया हो ? ··तो आशा, तुम बिदा हो जाओ। सुख, तुम सदा के लिए मेरा साथ छोड़ दो। शैलबाला विवाहित है या अविवाहित, यह जानने के लिए किरण का हृदय व्याकुल हो उठा, लेकिन अपने सुख के लिए कर्तव्य की अवहेलना करना उन्होंने उचित न समझा। निश्चय किया कि कविचन्द्र का उद्धार करके तब अजमेर जायँगे।

पृथ्वीराज-आदि सब लोगों ने उसी दिन किरणसिंह की पुनःप्राप्ति का सम्वाद सुन लिया और शीघ्र ही यह ख़बर चारों ओर फैल गयी।

---

[१८]

पृथ्वीराज राजमहल के एक कमरे में खिड़की के पास खड़े होकर न-जाने क्या सोच रहे हैं। मुँह मलिन हो रहा है, हृदय अनेक चिन्ताओं से पूर्ण है। वे चिन्ताओं को हृदय से दूर करना चाहते हैं, पर सफल न होने पर दुखी हो रहे हैं। थोड़ी देर बाद उन्होंने मन्त्री को बुलाया। मन्त्री के आने पर राजा ने कहा—"युद्ध से कुछ पहले हम लोगों को थानेश्वर पहुँच जाना चाहिए। अब एक सप्ताह के बाद मैं वहाँ सेना के सहित पहुँच जाना चाहता हूँ। वहाँ शिविर बनाने के लिए आदमी भेज दो। वहाँ जाकर हम लोग युद्ध के लिए तैयार रहेंगे। रोगिणी कन्या को लेकर महारानी भी हमारे साथ चलेंगी।"

युद्ध की बात समाप्त करके महाराज ने कहा—"चन्द्रकवि के उद्धार के लिए तुमने क्या उपाय किया? इस बार चारों ओर अमङ्गल के लक्षण दीख रहे हैं। उषावती बीमार है, उसके बचने की आशा नहीं; सेनापति अखिलसिंह रोग-शय्या पर हैं, कवि-चंद्र का पता नहीं,—वे जीते हैं कि मरे, इसका कुछ ठीक नहीं। इस बार युद्ध के लिए सभी हतोत्साह हैं। उषावती की बीमारी के कारण किसी के मन में प्रसन्नता नहीं है। यदि इस समय मैं निरुत्साहित हो जाऊँ तो क्या होगा? मन में सुख न रहने पर

भी उसे प्रमाणित करना उचित नहीं है। तुम सेना को इकट्ठी करो, मैं ज़रा उसकी सजावट देखना चाहता हूँ।"

महाराज की आज्ञा के अनुसार कार्य करने के लिए मन्त्री चले गये।

इधर कविचन्द्र का उद्धार करने के लिए, सब से विदा होकर, किरणसिंह ने उसी दिन दिल्ली से प्रस्थान किया। भाई को चित्तौड़ भेजकर कल्याण ने अपना मृत्यु-पथ परिष्कृत देखा, पर मरने के पहले उन्हें अपनी एक प्रतिज्ञा और पूरी करनी है। उन्होंने गुलाब से वादा किया था कि यदि वह अपनी बात का प्रमाण दे सकेगी तो वे उसका उपकार करेंगे। वह तो अपनी बात प्रमाणित कर चुकी, अब युवराज कैसे उसका उपकार कर सकते हैं, यही सोचने लगे। इसी समय रोते-रोते गुलाब ने स्वयं ही युवराज के कमरे में प्रवेश किया। उषावती की बीमारी देखकर उसका हृदय आत्म-दंश की ज्वाला से जल रहा था, अतः वह कुमार के निकट अपना अपराध स्वीकार करके अपने हृदय का भार कम करने के लिए आज आयी थी। आकर वह कुमार के पैरों पर लोट गयी। बोली—"मैंने जो कुछ किया है, उसके लिए मुझे क्षमा कीजिए।"

गुलाब के मुँह से यह बात सुनकर आश्चर्य से राजकुमार ने कहा—"तुमने क्या किया है?"

"मैंने क्या किया है? मैंने झूठ बोलकर चिरकाल के लिए, आपका सुख छीन लिया है।"

"तुमने मेरा सुख छीन लिया है, इसलिए तुम मुझसे क्षमा चाहती हो, लेकिन मैं इसके लिए तुमसे असन्तुष्ट नहीं हूँ। मैं अमृत के भ्रम से विष पीने जा रहा था, तुमने यह मुझे बता दिया। यद्यपि वह अमृत नहीं था, इस कारण से मैं शोक-सागर में बह रहा हूँ, किन्तु विष-पान करने से बच गया, इसके लिए तुम्हें धन्यवाद देता हूँ। तुम्हें मैं क्षमा क्या करूँ, बल्कि पहले मैंने तुम्हारी बात नहीं मानी, इसके लिए मैं ही तुमसे क्षमा माँगता हूँ।"

"आप मेरी बातों पर अविश्वास करके मेरे हृदय की ज्वाला न बढ़ावें। असल में दोषी मैं हूँ, मैंने ही अपने सुख के लिए यह जघन्य कार्य किया है और जिस सुख के लिए यह काम किया, मुझे वह सुख भी न मिल सका। दारुण यातना से आज मेरा हृदय जला जारहा है। मैंने जिस प्रकार आपको चिर-जीवन के लिए दुखी किया, उसी प्रकार मैं भी कभी सुखी न हो सकूँगी।" यह कहकर उसने वे सारी बातें कल्याण से कह डालीं, जिस कारण से वह इस कार्य में प्रवृत्त हुई थी। इन सारी बातों को सुनकर कल्याण विचलित हुए, पर पूरी तौर से विश्वास न कर सके। इसके पहले हृदय में जो विश्वास इतना बद्धमूल हो गया था, वह गुलाब की इस समय की बातों से सहसा दूर न हो सका। उन्होंने कहा—"गुलाब! मैं बच्चा नहीं हूँ। तुम जिसकी सिखाई हुई आज इस तरह की बातें कर रही हो, वह मैं जानता हूँ। अब क्यों व्यर्थ....."

गुलाब कातर होकर कह उठी—"युवराज, क्षमा कीजिए। यह अविश्वास मन से दूर कीजिए। राजकन्या कुछ भी नहीं जानतीं। वे बिल्कुल निर्दोष हैं। आप मेरी बातों पर विश्वास नहीं करते तो न करें, किन्तु ये पत्र आपको मेरी बातों की सचाई का सबूत देंगे।" यह कहकर उसने कुछ पत्र राजकुमार के हाथ में रख दिये। ये विजय के पत्र थे, जो उसने गुलाब को समय-समय पर लिखे थे। कल्याण ने उनमें से एक पढ़ा—

"प्राणाधिके गुलाब,

सुना है आज कल्याण राजकुमारी के पास जायँगे। यदि सचमुच ही जायँ तो मुझे बता देना और गुप्त द्वार खोल रखना, क्योंकि मैं भी एक बार वहाँ जाना चाहता हूँ। बिना मुझे राजकुमारी के कमरे में देखे राजकुमार के मन का सन्देह पक्का न होगा। गुलाब! मैं आशापूर्ण से प्रार्थना करता हूँ,—तुम भी कहो कि हमारा मनोरथ पूरा हो—राजकुमार के हृदय में आग जल उठे, आज से उनके बीच में चिर-विच्छेद उपस्थित हो; राजकुमारी ने मुझे प्रेम में निराशा किया है, आज से वे भी अपने प्रेम में निराश हों; जिसे उन्होंने प्यार किया है, वह जीवन-भर उनका मुँह न देखना चाहे। ऐसा होने पर गुलाब, हमारी आशा पूर्ण होगी और तुम्हें पाकर मैं सुखी हो सकूँगा।

तुम्हारा चरणाश्रित—विजयसिंह।"

कल्याण ने जितने पत्र पढ़े, सब इसी अभिप्राय के थे। पढ़ते-पढ़ते उनका शरीर रोमांचित हो उठा। विजय की धूर्तता वे

समझ गये। किन्तु, फिर भी इतनी मानसिक यातना भोग लेने के बाद सहसा इस सुख-सम्वाद पर विश्वास करने को जी न चाहा। उन्हें यह सब स्वप्न मालूम होने लगा, उनके शरीर का शोणित स्तब्ध होगया; वे जीवित हैं या मृत, यह वे स्वयं ही न समझ सके।

गुलाब ने पुकारा—"युवराज!"

युवराज चौंक उठे, उनकी चिन्ता का स्रोत टूट गया। वे सोच रहे थे—"यह क्या सच है? उषावती क्या सचमुच ही निर्दोष है? तब क्या उस राजबाला के निकट मैं ही अपराधी हूँ? अपनी उषा को क्या पुनः अपनी कह सकूँगा?" उन्होंने हर्ष-कम्पित स्वर में कहा—"गुलाब! सचमुच ही क्या देवता मेरे ऊपर प्रसन्न हुए हैं? सचमुच ही क्या मेरी उषा निरपराधिनी है? या मैं स्वप्न देख रहा हूँ?"

"युवराज! सन्देह दूर कीजिए; मुझसे आपका दुःख देखा नहीं जाता।"

इस बार युवराज ने प्रसन्नतापूर्वक कहा—"तब निरपराधिनी उषा के निकट मैं ही अपराधी हूँ। मैं अभी जाकर और उनके चरण पकड़कर उनसे क्षमा मागूँगा। उनकी प्रकृति जैसी कोमल है, वह अवश्य मुझे क्षमा कर देंगी। तुमने अपराध जरूर किया है, पर आत्म-दोष स्वीकार करके उसका प्रायश्चित भी कर लिया। मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ। तुम्हारी बातों से आज के पहले मैं जैसी यन्त्रणा भोग रहा था, आज वैसा ही सुखी होगया।"

गुलाब ने दीर्घ निःश्वास छोड़कर कहा—"आपकी बात से यह मालूम होता है कि राजकुमारी की बीमारी का हाल आपको नहीं मालूम। आप जब से उनके पास से आए, वे बेहोश पड़ी हैं। उनके निकट अपराध स्वीकार करके आप उन्हें सुखी न कर सकेंगे। टूटा हुआ दिल लेकर ही कदाचित् उन्हें प्रस्थान करना पड़ेगा। हाय! आपलोग यदि फिर किसी तरह सुखी हो सकते तो कदाचित् मैं भी सुखी होती।" यह बातें कहते-कहते गुलाब की मुख-भङ्गी विकृत होगयी, आँखें फैल गयीं, भौंहें सिकुड़ गयीं, वह पागल-सी हो गयी। सारी बातें कहकर गुलाब कह उठी—"राजकुमारी शायद अब न बचेंगी—हाय, हाय! उनकी हत्या करनेवाला और कौन है?" और छाती पीटकर उसने अपने-आप ही उत्तर दिया—"यही पापिनी!" यह कहकर तेज़ी से वहाँ से चली गयी।

राजपुत्र वज्राहत की तरह बैठे रह गये।

---

[१६]

एक ओर दुर्ग है, दूसरी ओर दिल्ली का राज-प्रासाद और बीच में विस्तृत प्रान्तर फैला हुआ है—उसी मैदान में आज पृथ्वीराज की विशाल सेना एकत्रित हुई है। देवी की पूजा कर चुकने के बाद थानेश्वर की यात्रा के लिए सब लोग उत्सुकता-पूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं। चारों ओर घोर निस्तब्धता और गम्भीरता छायी हुई है। कभी-कभी घोड़ों के हिनहिनाने और पैर से जमीन खोदने के कारण शब्द हो जाता है, तथा योद्धाओं की खुली हुई तीखी तलवारें झनझना उठती हैं।

पूर्व निश्चय के अनुसार सेना चार भागों में बाँटी गयी है। पहली और दूसरी श्रेणी में अठारह-अठारह हजार सिपाही हैं और तीसरी श्रेणी में बारह हजार—जो कल्याण के अधीन हैं। चौथी श्रेणी के नायक विजयसिंह हैं, और इनके आधीन दस हजार सिपाही हैं। सभी श्रेणियाँ दो दलों में बँटी हुई हैं—घुड़सवार और पैदल। इस प्रकार अपने-अपने अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित होकर सारी सेना मैदान में खड़ी है। मैदान के दूसरे छोर पर असंख्य हाथी, ऊँट, बैल, पालकी, बहली तथा भोजन और अस्त्रों से लदी हुई गाड़ियाँ और उनके पहरेदार, तोपें और गोलों से भरी हुई गाड़ियाँ खड़ी हैं। राजधानी में थोड़े ही लोग बच रहे हैं,

बाक़ी सभी लोग यह रण-सज्जा देखने के लिए मैदान तथा उसके आस-पास उमड़ आये हैं। सहसा घोड़ों के दौड़ने की तेज़ आवाज़ सुन पड़ी और साथ-ही-साथ सहस्र-सहस्र कण्ठों से निकली हुई 'जय पृथ्वीराज की जय', 'जय समरसिंह की जय' की जय-ध्वनि से दिगन्त प्रतिध्वनित हो उठा। इस जय-ध्वनि के बीच में चार वर्माकृत अश्वारोही आकर चारों सेनाओं के सामने खड़े हो गये। लड़ाई का बाजा बजने लगा; सेना का, नगरवासियों का और घोड़ों का हृदय उन्मत्त हो उठा। उत्साह की तरङ्गों से सारा मैदान उच्छ्वसित हो उठा। कहना न पड़ेगा कि ये चारों सेनापति पृथ्वीराज, समरसिंह, कल्याण और विजय हैं।

ये चारों सेनापति चार श्रेणियों के सामने जा खड़े हुए। पृथ्वीराज ने न-जाने क्या सङ्केत किया, झट चारों ओर निस्तब्धता छागयी—कोलाहल स्तब्ध, जय-ध्वनि स्तब्ध, रण-वाद्य स्तब्ध, सभी निस्तब्ध होगया। पृथ्वीराज उस निस्तब्धता को, और सैनिकों तथा श्रोताओं के हृदय को कँपाते हुए कहने लगे-"क्षत्रिय वीरो! गत वर्ष यवन क्षत्रिय वीर्य की तेजस्विता और क्षत्रिय खड्ग की तीक्ष्णता का जो अनुभव कर गये हैं, उस पराजय का कलङ्क आज भी उन्हें कलङ्कित कर रहा है। जिस मुहम्मद ग़ौरी को हम लोग दो-दो बार पकड़ लाये थे, किन्तु क्षत्रिय के क्षमा-गुण के कारण ही जिसे दोनों बार छोड़ दिया था, वही आज म्लेच्छों की सेना लेकर फिर हमारी आर्य-भूमि को अपवित्र करने आया। वीरो! यदि तुम आर्य-नाम की गौरव-रक्षा करना चाहते हो,

यदि यवनों के द्वारा पद-दलित नहीं होना चाहते, यदि अपने प्राणों से प्रिय स्त्री-पुत्र-कन्या-आदि को यवनों के द्वारा सताये जाते नहीं देखना चाहते, यदि हिन्दू-धर्म के प्रति, हिन्दू मठ-मन्दिरों के प्रति तुम्हारे मन में कुछ भी श्रद्धा-भक्ति हो. तो इन म्लेच्छों को ऐसी सीख दो कि फिर ये सिन्धु-नद पार करने का साहस न करें। तुम लोगों में क्या कोई—" पृथ्वीराज की बात और न सुन पड़ी, सहसा चारों दिशाएँ मानों आलोड़ित हो उठीं, सिपाहियों की उत्साह-ध्वनि से, अस्त्रों की झनझनाहट से, घोड़ों की हिन-हिनाहट से और जनता की जय-ध्वनि से पृथ्वीराज की आवाज़ छिप गयी। थोड़ी शान्ति होने पर उन्होंने फिर कहा—"तुम-लोगों में में क्या कोई ऐसा कायर है, कोई ऐसा अक्षत्रिय अनार्य है, जिसे उत्तेजना की बातें सुनाकर उत्तेजित करने की ज़रूरत पड़ेगी ? यवनों की पराजय ही तुम्हारा उद्देश्य है, देश की रक्षा ही तुम्हारा व्रत है, और वीर-श्रेष्ठ समरसिंह स्वयं तुम्हारे सहायक हैं, ऐसी दशा में तुम्हारे शरीर का एक-एक बूँद रक्त ही तुम्हारी उत्तेजना के लिए काफ़ी होना चाहिए। योद्धाओ ! उसी वीर-तेज से, उसी क्षत्रिय प्रताप से, आओ, आज हम यवनों का विध्वंस करने के लिए अग्रसर हों।"

पृथ्वीराज की बात ख़त्म होते-न-होते फिर चारों ओर से कोलाहल उमड़ पड़ा, फिर वही जय-ध्वनि, फिर वही अस्त्रों की झनझनाहट—सातों स्वर्ग तक मानों काँप उठे। लड़ाई के बाजे बजने लगे। उसी कोलाहल में चारों सेनापतियों ने अपना घोड़ा

बढ़ाया, उनके पीछे क़तार बाँधकर अश्वारोही और पैदल सेना चली। फिर असंख्य सजे हुए हाथी, अश्व और ऊँटों के द्वारा चलनेवाली गाड़ियाँ, श्रेणीबद्ध होकर, आसमान तक उड़ती हुई गर्द के बीच से स्कन्धावार की ओर चल पड़े।

---

[२०]

कविचन्द्र के पास से लौटकर अनाथ ने प्रभावती-आदि को ख़बर दी थी कि कवि यवन-शिवर में गये हैं। उसके बाद से उनका कोई पत्र-आदि न पाकर प्रभावती बहुत चिन्तित हुई। शैलबाला से अपने मन की चिन्ता कहने पर वह कहती—"अपने प्रियजनों के सम्बन्ध में स्वभावतः ही ऐसी चिन्ता उठती रहती है। कवि ऐसे आदमी ही नहीं हैं कि किसी विपत्ति में पड़ें। जान-बूझकर ही, किसी-न-किसी कारण से वे पत्र नहीं भेज रहे हैं।"

रात अधिक बीत गयी थी। सारा संसार सोया हुआ था, पर प्रभावती की आँखों में नींद न थी। वे अपने पलँग पर लेटी हुई कवि के बारे में चिन्ता कर रही थीं, पास ही शैलबाला गहरी नींद में सोयी हुई थी। प्रभावती ने भी सोने की चेष्टा की, पर नींद नहीं आयी। सोये-सोये जब जी ऊब गया तो उठकर पलँग पर बैठ गयीं और शैलबाला की ओर टकटकी लगाकर देखने

लगीं। खिड़की से आकर चन्द्रमा की किरणें शैलबाला के मुँह पर पड़ रहीं और उसके सौन्दर्य को दूना कर रही थीं। उसके ओठों पर पसीना हो आया था, प्रभावती ने उसे स्नेह से पोंछ दिया। देखा, शैलबाला के ओठ मृदु हास्य से ईषत् उन्मीलित हो रहे हैं, मानों वह कोई सुख-स्वप्न देख रही हो। प्रभावती ने धीरे-धीरे उसके हास्य-विकसित ओठों को चूम लिया। उनकी आँखों से निकलकर दो बूँद आँसू शैलबाला के गालों पर गिर पड़े। प्रभावती ने हल्के-से उन्हें पोंछ दिया, फिर अपनी जगह आ-बैठीं और मन-ही-मन बोलीं—"बालिका! तुम्हीं सुखी हो।"

सोचते-सोचते रात्रि के अन्त में प्रभावती की आँखें झपक गयीं। थोड़ी ही देर बाद कोई बुरा सपना देखकर चौंक उठीं, नींद टूट गयी। देखा—सवेरा हो रहा है। शैलबाला भी पास नहीं है। अकेले सोयी-सोयी वे रोने लगीं। मन थोड़ा शान्त हुआ तो पलँग छोड़कर खिड़की के पास आ खड़ी हुईं। देखा, शैल-बाला नदी के किनारे खड़ी होकर नदी की तरङ्ग-लीला देख रही है। वे भी बारा की ओर चल पड़ीं। नदी के पास आने पर सहसा वीणा की मधुर ध्वनि उनके कानों में बज उठी। वे वहीं खड़ी होगयीं। उन्हें मालूम हुआ कि शैलबाला के गाने की आवाज़ से उन्हें वीणा का भ्रम होगया था। वे और दूर न जाकर एकाग्र-चित्त से शैलबाला का गीत सुनने लगीं।

गीत सुनकर प्रभावती का हृदय उच्छ्वसित हो उठा। वे शैलबाला के पास चली गयीं। उन्होंने देखते ही शैल ने कहा—

"ओ हो ! चेहरा उतरा हुआ क्यों देख रही हूँ ? दिन-रात उदास ही बनी रहोगी ?"

प्रभावती ने कहा—"आज सवेरे ऐसा बुरा सपना देखा है कि जी न-जाने कैसा कर रहा है। एक क्षण भी यहाँ रहने को जी नहीं चाहता।"

दिन-भर व्यर्थ की बातें ! सोचती रहोगी तो रात को सपना बुरा न देखोगी तो और क्या ?"

"व्यर्थ की बातें ! तुम्हारी यही बात सुनकर मेरा जी जल उठता है, तुमसे अपना दुःख कहने की इच्छा नहीं होती। वे यवनों के शिविर में गये हैं, अभी तक दिल्ली नहीं पहुँचे। उनकी एक चिट्ठी भी नहीं आयी, इससे मालूम होता है कि जरूर वे गिरफ्तार होगये और तुम कहती हो कि व्यर्थ की चिन्ता है !"

"अहा ! रोते-रोते तुम्हारी आँखें फूल गयी हैं। तुम हँसो या रोओ, हमेशा सुन्दर लगती हो। तुम इस समय रोने पर भी सुन्दर लग रही हो, जैसे कमल के फूल पर ओस पड़ी हुई हो। कविचन्द्र के भाग्य में नहीं है, इसी से यह शोभा वे नहीं देख सके।"

प्रभावती ने नाराज होकर कहा—"तुम्हें दुःख के वक्त भी दिल्लगी सूझती है ? जान पड़ता है, तुम्हें अब भी यह नहीं मालूम कि प्रेम क्या होता है !"

"नाराज होगयीं ? अच्छा तो चलो, हम लोग कमर बाँधकर यवनों के शिविर से तुम्हारे प्राणनाथ को छुड़ा लावें।"

"तुम तो ठट्ठा कर रही हो, लेकिन मुझे सचमुच यही इच्छा हो रही है।"

"ठट्ठा नहीं, मैं भी सचमुच ही कह रही हूँ।"

"तुम मुझे और न जलाओ। मैं तो खुद ही अपने दुःख से मर रही हूँ। तुम कहाँ तो मुझे दिलासा देतीं, उल्टे जला रही हो।"

शैलबाला प्रभावती को प्यार करती थी। वह प्रभावती के दुःख से दुखी न हो, यह बात नहीं; लेकिन उनके दुःख को भुलाये रखने के लिये ही वह हमेशा प्रसन्न रहती और हँसी-मज़ाक़ किया करती थी। आज उसकी बातों से प्रभावती को बहुत दुःख हुआ है, यह जानकर उसने गम्भीर होकर कहा—"बहन, ऐसा न सोचो। तुम्हें कष्ट देने के लिए मैं हँसी नहीं करती, बल्कि तुम्हारे दुःख को भुलाए रखने के लिए। इस समय मैं जो कह रही हूँ, वह मज़ाक़ की बात नहीं। चलो, हम दोनों जने दिल्ली चलकर उनके उद्धार का कुछ उपाय करें।"

"किस तरह?"

"कविचन्द्र सचमुच ही क़ैद हो गये हों तो हम दो स्त्रियाँ उन्हें छुड़ा न सकेंगी, यह सच है, लेकिन दिल्ली चलकर महाराज के द्वारा इस बारे में कुछ उपाय कराया जा सकता है।"

प्रभावती शैलबाला की इस बात पर राज़ी होगयी। दूसरे दिन केवल एक नौकर को साथ लेकर वे दोनों अजमेर से चल पड़ीं। अनाथ बीमार था, इसलिए वह साथ न जा सका। इस समय लड़ाई छिड़नेवाली है, देश में मुसलमान आये हुए हैं, इस

समय स्त्री-वेश में जाने से विपद् की सम्भावना जानकर उन दोनों ने पुरुष का वेश धारण कर लिया। अँगिया-चोली और सुवर्ण-खचित रत्नालङ्कारों की जगह उनके शरीर पर पुरुषों के वस्त्र, कमर में तलवार और सिर पर पगड़ी शोभित होने लगी। दोनों एक-दूसरे को देखकर आश्चर्य में पड़ गयीं। शैलबाला ने कहा—"तुम तो सचमुच ही पुरुष की तरह लग रही हो। चलो, आइने में यह रूप दिखा दूँ।"

"तुम्हीं देखो जाकर। मुझे अब यह सब साध नहीं है।"

"मैं तो देखूँगी ही, तुम्हें भी दिखाऊँगी।"

शैलबाला हाथ पकड़कर प्रभावती को आइने के पास ले गयी और बोली—"पुरुष-वेश में मुझे जान पड़ता है, जैसे मैं सचमुच ही पुरुष हूँ। यदि रास्ते में तुम पर कोई अत्याचार करेगा तो मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।" कहकर शैलबाला हँसी और तलवार निकालकर घुमाने लगी। उसकी वह मूर्ति आइने में प्रतिबिम्बित हुई। शैलबाला रण-सज्जा से सज्जित अपने-आपको देखने लगी। वह मानो अपने रूप पर मोहित होगयी। मृदु-मधुर मुस्कराहट के साथ बोली—"यह देखो, इस तरह तुम्हारी रक्षा करूँगी। इस हालत में अगर दिलीप से मुलाक़ात हो तो क्या वह मुझे पहचान सकेंगे?"

"क्यों यह रूप दिलीप को दिखाने की साध होती है क्या?"

शैलबाला एक मोहक हँसी हँसकर आइने के सामने से हट गयी।

दिल्ली जाने का जो आम रास्ता था, उससे न जाकर इन लोगों ने छिपे तौर से पर्वत के रास्ते से प्रस्थान किया। वे तीनों ही, घोड़ों पर चढ़कर दिल्ली की ओर चल पड़े।

अजमेर से जिस दिन लोगों ने प्रस्थान किया, उसके पाँचवें दिन दिल्ली के इतने समीप पहुँच गये कि और दो घण्टा चलें तो दिल्ली पहुँच जायँ। लेकिन उन्होंने आज यहीं विश्राम करने का निश्चय किया।

चाँदनी रात थी, चन्द्र-ज्योत्स्ना चारों ओर फैली हुई थी, शैलबाला विभावरी के उस सौन्दर्य पर मुग्ध होकर गीत गाने लगी। गाते-गाते सहसा आसमान पर बादल का एक टुकड़ा दीख पड़ा। क्रम से बादल आसमान-भर में छागये। पृथ्वी अन्धकार से भर गयी। बिजली चमकने लगी, बादल गरजने लगे, हवा जोर से चलने लगी। आँधी आने के लक्षण देखकर दोनों स्त्रियाँ घबरा गयीं। नौकर पास के गाँव में कुछ भोजन-आदि की सामग्री लाने चला गया था। वे अकेली डरने लगीं। पास ही एक गुफा देखकर उन्होंने उसमें आश्रय लेने का निश्चय किया। उस गुफा में पहुँचकर शैलबाला ने कहा—"हम लोगों ने पुरुष का वेश धारण करके ही अन्याय किया है। ज़रा-सी आँधी देखकर जब हम हिम्मत हार गये, तो पुरुष-वेश धारण करने से लाभ क्या हुआ?"

प्रभावती ने कहा—"मुझे साहस दिखाने का समय नहीं है। तुम्हारी इच्छा हो तो आँधी के साथ लड़कर वीरता दिखा आओ!"

"तुम अगर रोने न लगतीं तो मैं दिखा देती कि आँधी के साथ मैं कैसे लड़ती हूँ!"

जिस गुफा में इन दोनों ने आश्रय लिया था, उसके बग़ल में एक और गुफा थी, जिसका आधा हिस्सा अन्दर से दीख पड़ता था। जब ये दोनों गुफा में आयीं, उसके थोड़ी देर के बाद ही दूसरी गुफा में रोशनी लिये हुए दो व्यक्तियों ने प्रवेश किया। ये दोनों भी कदाचित् आँधी-पानी के डर से गुफा में आश्रय लेने आये थे। उनके गुफा में प्रवेश करते ही बड़े ज़ोर से पानी बरसने लगा, आँधी चलने लगी—चारों ओर प्रलय का दृश्य दीख पड़ने लगा। प्रलयङ्करी आँधी से गुफा काँप उठी, दिशाएँ काँप उठीं, प्रभावती का हृदय भी काँपने लगा। केवल बालिका शैल निर्भय बैठी रही और प्रभावती को डरते देख, मन-ही-मन हँसती रही। इसी समय दो पुरुषों को दूसरी गुफा में घुसते देख, और उन्हें डाकू समझकर प्रभावती और भी डर गयीं। वे दोनों गुफाओं के बीच में सिकुड़कर छिप गयीं। शैलबाला ने उनके कानों-कानों में कहा—"डरने की कोई बात नहीं, अँधेरे में वे हमें देख न पावेंगे। यदि तुम्हारे रूप के उजाले से देख लें तो और बात है। और डर भी किस बात है? वे भी दो पुरुष हैं, हम लोग भी दो पुरुष हैं। अगर वे यहाँ आवेंगे तो युद्ध किया जायगा।"

सचमुच ही अन्धकार होने के कारण उन दोनों में से कोई इन लोगों को न देख सका। उन दो पुरुषों में एक मुसलमान

मालूम होता था, दूसरा हिन्दू। मुसलमान ने कहा—"मुहम्मद गौरी ने मुझे आपके पास भेजा है।"

"यह देखिए" कहकर मुसलमान ने हिन्दू के हाथ में कोई चीज़ दी। उसे देखकर हिन्दू ने कहा—"ठीक है। उनसे कहना, वे दिल्ली जीतने के लिए जिसकी सहायता की आशा करते थे, वह उनकी सहायता करने के लिये तैयार है।" इसके बाद विजय ने जिस उपाय से युद्ध में विजय पायी जायगी, और वे क्या सहायता करेंगे, यह सारी बातें उसे बतलायीं। फिर कहा—"इस प्रकार निश्चय ही उनकी जीत होगी। इसके अलावा लड़ाई के समय और जो-कुछ कहना होगा, वह मैं सुविधानुसार कहला भेजूँगा। उनसे कहना, अपनी प्रतिज्ञा वे याद रक्खेंगे।

उन लोगों की बात खत्म होने पर आँधी भी रुकी। विजय की विश्वासघातकता से क्रुद्ध होकर प्रकृति देवी भी उसके कुपरामर्श के साथ-ही-साथ तर्जन-गर्जन कर रही थीं। वे दोनों गुफ़ा से निकलकर अपनी-अपनी जगह चले गये।

मुसलमान जब गुफा से निकलकर बाहर आया तो थोड़ी दूर पर उसने दो घोड़े देखे। घोड़े सजे हुए थे और सहज ही जान पड़ता था कि ये सवारी के घोड़े हैं। उन्हें देखकर उसके मन में सन्देह उत्पन्न हुआ। उसने सोचा कि जरूर यहाँ दो आदमी आये हैं, और आँधी में यहीं आस-पास कहीं छिपे होंगे। यदि उन्होंने हमारी बातें सुन ली होंगी तो इस बार भी विजय की आशा छोड़ देनी पड़ेगी। फलतः वह लौटकर उन आदमियों का अनुसन्धान करने चला। अब चाँदनी निखर आयी थी और चारों ओर आलोक फैल गया था। मुसलमान ने चारों ओर ढूँढ़-खोज कर लेने के बाद उस गुफा में प्रवेश किया, जिसमें प्रभावती और शैलबाला छिपी हुई थीं। प्रकाश से अन्धकार में आने के कारण पहले वह उन लोगों को न देख सका, पर उन दोनों ने उसको देख लिया। प्रभावती तो उसे गुफा में घुसते ही डर के मारे काठ होगयी, शैलबाला ने भी समझा कि वह किसी बुरे इरादे से ही अन्दर आरहा है। अन्दर आकर मुसलमान हाथ से टटोलकर देखने लगा कि गुफा में कोई है या नहीं। सहसा उसका हाथ शैलबाला के शरीर से छू गया। उसने सोचा कि इन लोगों ने हमारी सारी बातें सुन ली हैं, इनको बिना मार

डाले काम न चलेगा। इधर उसका जो हाथ शैलबाला के शरीर से छू गया था, उसमें सहसा तलवार की नोक चुभ गयी। शैल-बाला ने उसके पैर पर आघात करना चाहा था, जिसमें चल न सकने के कारण वह उन लोगों पर अत्याचार न कर सकेगा, और न मुहम्मद ग़ौरी के पास पहुँचकर उस हिन्दू का सन्देश ही कह सकेगा। उसके बाद दिल्ली जाकर यह ख़बर देने पर वह मुसल-लमान क़ैद कर लिया जायगा; लेकिन शैलबाला का प्रयत्न निष्फल हुआ। अस्त्र चलाने का अभ्यास न होने के कारण और जिस समय उन्होंने आघात करना चाहा, उसी समय उसके हाथ फैला देने के कारण, शैलबाला की तलवार उसके पैर में न लगकर हाथ में लगी। मुसलमान ने झटपट दूसरे हाथ से बज्र की तरह शैलबाला का कोमल हाथ पकड़ लिया और घसीटकर बाहर निकाल लाया। शैलबाला को बाहर ले जाते देखकर प्रभावती "बचाओ बचाओ" कहकर चिल्ला उठीं और उन दोनों के साथ ही बाहर निकल आयीं। बाहर आकर उन्होंने सुना—दूर से कोई 'डरो मत, डरो मत' कहकर इन्हें दिलासा दे रहा है। उन्होंने देखा, एक युवक घोड़े पर चढ़ा, नङ्गी तलवार हाथ में लिये इन लोगों की ओर दौड़ा आ रहा है। उसके साथ और भी कई सैनिक थे। देखते-ही-देखते वे सब इनके पास पहुँच गये। इधर दूसरी ओर से, इन लोगों का नौकर भी आ पहुँचा, जो आँधी-पानी के कारण गाँव में ही रुका हुआ था। एक साथ इतने आदमियों को आते देख, और विपद् की सम्भावना जानकर

मुसलमान झटपट भाग चला। युवक ने अपने दो सिपाहियों को उनका पता लगाने के लिए भेजा। इन दो अल्पवयस्क बालकों को अकेले इस रास्ते जाते देखकर उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। शैलबाला ने चन्द्रमा के प्रकाश दिलीप को पहचाना। हृदय के दर्पण में जो मूर्ति दिन-रात प्रतिबिम्बित होती रहती है, उसे देखते ही पहचान लें तो अचरज क्या है! किन्तु, पुरुष-वेश में होने के कारण दिलीप शैलबाला को न पहिचान सके। शैलबाला का हृदय आल्हाद से काँपने लगा, शरीर सिहर उठा। शैलबाला ने एक बार सचकित आँखों से दिलीप की ओर देखा और लज्जा से सिर झुका लिया। कई बार उसने सिर उठाने की चेष्टा की, लेकिन वह जैसे बार-बार स्वतः ही नत होगया। शैलबाला के इस भाव को देखकर प्रभावती ने उसके कान में कहा—"यह क्या दीदी! तुम तो पुरुष-वेश का निबाह खूब कर रही हो! वह आदमी देखेगा तो क्या कहेगा?" शैलबाला ने सिर उठाकर प्रभावती के कान में धीरे-धीरे कुछ कहा। सुनकर प्रभावती युवक से बोली—"उस बदमाश मुसलमान की बात याद करके अब भी इनके मुँह से आवाज नहीं निकल रही है। क्रोध से अब भी इनका सारा शरीर लाल हो रहा है।" इसी समय दोनों सिपाहियों ने आकर खबर दी कि मुसलमान का कुछ पता नहीं चला। दिलीप ने हँसकर कहा—"जिसके ऊपर क्रोध है, वह कदाचित् अब यहाँ से बहुत दूर भाग गया और मेरे रहते वह यहाँ फिर आवेगा, इसकी भी कोई आशङ्का नहीं है।"

शैलबाला ने मन-ही-मन कहा—"विच्छेद की आशङ्का तो है !" लेकिन उनके मन की बात मन ही में विलीन होगयी।

दिलीप के पूछने पर प्रभावती ने सारी बातें उनसे बतायीं कि किस प्रकार वे इस गुफा में आयीं और दो व्यक्तियों को देखा। सुनकर किरणसिंह ने आश्चर्य से कहा—"हिन्दू-वंश में कौन ऐसा कुलाङ्गार जन्मा है, जो ऐसा घृणित कार्य करने पर उतारू हुआ है ? ईश्वर हमारे सहायक हैं, जिन्होंने आप लोगों को इस समय यहाँ भेजकर ये बातें प्रकाशित कर दीं। जान पड़ता है, इसी बात के लिए फिर मुझे दिल्ली जाना पड़ेगा। उस विश्वास-घाती को क्या आप लोगों ने देखा है ? फिर देखने पर आप उसे पहिचान सकेंगे ?"

प्रभावती ने कहा—"नहीं, हम लोग उसे अच्छी तरह नहीं देख सके, इसलिए पहिचान न सकेंगे।"

अब प्रभावती ने नौकर से घोड़ा कसने को कहकर किरण से कहा—"आज आपने जो उपकार किया, उसके लिए हमलोग जीवन-भर आपके ऋणी रहेंगे।"

किरण ने कहा—"मैंने केवल अपने कर्तव्य का पालन किया है; इसमें ऋण की क्या बात है ? आप लोगों को यदि सीधे दिल्ली ही जाना हो, तो मैं आपको वहाँ तक पहुँचा दे सकता हूँ।"

प्रभावती इस बात पर राजी होगयीं और सब लोग उस चाँदनी रात में दिल्ली की ओर रवाना होगये। चलते-चलते सहसा

किरणसिंह ने कहा—"क्षमा कीजिएगा, मैं यह नहीं समझ सका कि आप लोगों समान दो अल्पवयस्क बालक इस विकट रास्ते से अकेले दिल्ली किसलिए जा रहे हैं।"

इस बार शैलबाला को बात-चीत करने का अच्छा मौक़ा मिला। उसने प्रभावती के कान में कहा—"बहन, मैं अब ज़रा इस युवक से मज़ाक़ करती हूँ। तुम चुपचाप सुनती रहना, कुछ बोलना मत।" यह कहकर उसने किरण से कहा—"यद्यपि आपका-हमारा परिचय अभी थोड़ा है, पर इतने ही समय में आपसे जो आत्मीयता होगयी है, उसे देखते हुए अपने दिल्ली जाने कारण बताने में हमें कोई आपत्ति नहीं है।" आवाज़ सुनकर किरणसिंह चौंक उठे। उनके कानों में मानों वीणा बज उठी। उन्होंने मानों सुमधुर बालिका-स्वर सुन पाया। सहसा उन्हें अपनी शैलबाला याद आयी। उन्होंने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा। एक बार उसके मन में सन्देह हुआ कि यह बालिका ही तो नहीं है, किन्तु हृदय में इस सन्देह को पनपने न दिया। शैलबाला ने प्रभावती की ओर इशारा करके कहा—"ये इस छोटी उम्र में ही एक बालिका के प्रति अनुरक्त होगये हैं। उसी को देखने के लिए माँ-बाप की बात न मानकर घर से भाग आये हैं। बहुत समझाने-बुझाने पर भी जब न माने तो मैं साथ हो लिया।" किरण ने फिर एक दीर्घ निःश्वास लिया। प्रभावती ने कहा—"यहाँ भी तुम मज़ाक़ करते हो?"

शैलबाला ने कहा—"इनसे छिपाने की क्या बात है? मुझे

जान पड़ता है, ये भी किसी युवती पर आसक्त हैं, इसी से तुम्हारे दुःख से दुखी हो रहे हैं।"

किरणसिंह झेंप गये। उनका मुंह लाल हो उठा। उन्हें चुप देखकर शैलबाला ने कहा—"मेरा अनुमान क्या ग़लत है?"

"आप लोगों ने जब मेरे सम्मुख अपना हृदय खोलकर रख दिया, तो मुझे भी कुछ छिपाना न चाहिए। आपका अनुमान सच है।"

शैलबाला का हृदय स्पन्दित हो उठा। तब क्या अभी भी शैलबाला उन्हें याद है, या दूसरी किसी युवती के लिए वे लम्बी साँसें ले रहे हैं? उत्तेजित आवेग से शैलबाला कह उठी—"तब आप शायद उसी के पास जा रहे हैं?"

"हाय! नहीं, मैं आपके मित्र की तरह सौभाग्यशाली नहीं हूँ।"

"क्यों? क्या वह युवती आपको प्यार नहीं करती?"

"यह भी मुझे नहीं मालूम; उसे देखे बहुत दिन होगये!"

"तब तो आप नये ढङ्ग के प्रेमी दीख पड़ते हैं। आप जिसे प्यार करते हैं, न तो उसके मन का भाव ही आपको मालूम है और न बहुत दिनों से आप उसके मिले ही हैं। आपका प्रेम भला कैसा है? जान पड़ता है, आपका प्रेम बहुत गहरा नहीं है।"

"उसको देखने के लिए मेरा मन प्रति-क्षण छटपटाता रहता है, लेकिन सैनिक व्रत में दीक्षित होने के कारण, उससे मिलने का अवकाश मुझे नहीं मिलता।"

"जब आपको यह नहीं जानते कि वह भी आपको प्यार

करती है, या नहीं तो आप उसे क्यों प्यार करते हैं ? यदि वह आपको प्यार न करे तो ?"

"क्यों प्यार करता हूँ, यह कह नहीं सकता। इतना ही जानता हूँ कि उसे मैं प्यार करता हूँ। यदि अब वह मुझे भूल गयी हो, दूसरे को प्यार करने लगी हो, तब भी मैं उसे प्यार करूँगा। लेकिन, मैं उसके कष्ट का कारण न बनूँगा, उसकी इच्छा का बाधक न होऊँगा, अपने मन में दारुण वेदना छिपाकर भी उसके सुख में अपने को सुखी समझूँगा।"

प्रभावती अब न रह सकीं। उन्होंने धीरे-धीरे कहा—"तुम जिसे प्यार करते हो, वही असली भाग्यवती है।" उन्होंने सोचा, न-जाने किस भाग्यशालिनी ने दिलीप को मोहित किया है। यह क्या वही बाल्य-सखी शैलबाला ही है ? उसका क्या ऐसा सौभाग्य है ? इसी प्रकार के विश्वासपूर्ण सन्देह के साथ उनका हृदय आलोड़ित होने लगा।

इस प्रकार बातचीत करते हुए जब वे कुछ दूर निकल आये तो सहसा विजयसिंह से मुलाक़ात होगयी। अपना काम खत्म करके विजय धीरे-धीरे वापस लौट रहे थे, जल्दी करने की उन्हें कोई ज़रूरत न थी। इधर किरणसिंह तेजी से आये थे। सहसा विजय को इस जगह देखकर उन्हें बड़ा अचरज हुआ। उन्होंने कहा—"ओ हो ! विजय है क्या ? इस जगह कैसे ?"

विजय को भी दो बालकों के साथ किरणसिंह को देखकर आश्चर्य ही हुआ। बोले—"और आप यहाँ कैसे ? ये लोग कौन हैं ?"

"पहले आप अपनी कहिए, फिर मैं बताऊँगा।"

विजय झटपट सोच न सका कि वह क्या उत्तर दे। इसी से क्षण-भर रुककर उसने कहा—"यहाँ पास ही एक गुफा में एक सन्यासी रहते हैं, जो भविष्य-गणना करते हैं। मैं उन्हीं से पूछने गया था कि इस बार लड़ाई में क्या होगा। आँधी-पानी के कारण देर होगयी।"

"सन्यासी ने क्या कहा?"

"उनसे भेंट नहीं हुई। शायद वे कहीं चले गये हैं। लेकिन आप आज यहाँ कैसे आये?"

"मैं कविचन्द्र का पता लगाने के लिए यवन-शिविर की ओर जा रहा था। एक कारणवश मुझे फिर दिल्ली लौटने की जरूरत पड़ गयी थी। अब तुम मिल गये हो तो अच्छा है। मैं जो कहता हूँ, वह जाकर महाराज से कह देना।" यह कहकर किरण ने प्रभावती से जो-कुछ सुना था, विजय को बतला दिया। सुनकर विजय जितना क्रोध प्रकाशित कर सकते थे, उन्होंने किया। क्रोध के मारे वे जैसे पागल-से होगये। ऐसा जान पड़ा, मानो यदि वह विश्वासघातक मिल जाय तो अभी विजय उसका खून पी लेंगे। किरण ने भरसक विजय को समझा-बुझाकर कहा—"इस वक्त व्यर्थ क्रोध से क्या होगा? तुम झटपट दिल्ली जाकर महाराज से यह सम्वाद निवेदन करो, जिससे समय रहते वे सावधान हो जायँ। हाँ, एक काम मेरा और करना होगा। मैं तो अब दिल्ली नहीं जा रहा हूँ। उन दोनों बालकों को अपने

साथ दिल्ली लेते जाओ। जहाँ ये जाना चाहें, इन्हें पहुँचा देना। तुम्हारा बहुत उपकार मानूँगा।"

विजय ने कहा—"कुमार ने जो आज्ञा दी, वह सब मैं भली भाँति सम्पन्न कर दूँगा।" 'कुमार' सुनकर शैलबाला चौंक उठी। दिलीप कुमार है! राजपुत्र है!! तब उसकी प्रेमिका भी अवश्य ही कोई राज-वंश की कन्या होगी। अब अज्ञात-कुलशीला शैल कभी उनकी प्रेमिका नहीं हो सकती। अब वह उनकी प्रेमिका की दासियों की भी दासी है। अब दिलीप के हृदय में बाल्य-सखी शैल की याद भी न रह गयी होगी। ऐसा होता तो वे शैलबाला को पहचान लेते। शैलबाला के हृदय में जिस दिलीप के नाम की रट रात-दिन लगी रहती है, वही दिलीप अब राज-कुमार होने के कारण उसे पहचान भी नहीं सका। अब उन्होंने नया-नया प्रेम किया है। शैलबाला अपना पुरुष-वेश भूल गयी, यह भी भूल गयी कि दिलीप ने उसे एक बालिका के रूप में देखा था, अब वही पूर्ण-यौवना रमणी हो रही है, और न पहचानने के लिए मन-ही-मन दिलीप को दोष देने लगी। क्षण-भर पहले शैल-बाला के हृदय में जो आशा और विश्वास उत्पन्न हुआ था, वह सहसा खो गया। वह अपने हृदय से दिलीप के प्रेम को निकाल फेंकने का प्रयत्न करने लगी, पर हृदय चाहे निकलकर अलग होजाय, हृदय में छिपा हुआ प्रेम कैसे दूर होगा?

किरणसिंह विजय के उन लोगों को साथ लेजाने की बात

कर रहे हैं, यह सुनकर प्रभावती ने अलग लेजाकर उनसे कहा—"मैंने एक अपराध किया है, आपको माफ़ करना होगा।"

किरण ने हँसकर कहा—"आपने क्या अपराध किया है?"

"मैंने आप-जैसे उपकारी से भी अपना परिचय छिपा रक्खा था।"

"लेकिन वह तो अब मैं आपसे पूछ नहीं रहा हूँ।"

"आपके न पूछने पर भी मुझे कहना चाहिए था, अब अपना परिचय देकर मैं प्रायश्चित्त करूँ। आपने एक बार कविचन्द्र का नाम लिया था। आप क्या उनसे परिचित हैं?"

"हाँ। मैं उन्हीं की खोज में दिल्ली के चला था, नहीं तो आप लोगों से मुलाक़ात भी न होती।"

"मैं उन्हीं कविचन्द्र की पत्नी ——।"

किरण ने आश्चर्य से कहा—"आप कविचन्द्र की पत्नी हैं? आप लोगों ने तब सचमुच ही पुरुष-वेष धारण किया है? मेरा सन्देह सच निकला! लेकिन, आप लोगों के दिल्ली आने का क्या कारण है?"

"हम लोग भी उन्हीं की खोज में अजमेर से निकली थीं। आप यदि हम लोगों को भी अपने साथ ले चलें तो दूसरी बार हमारा उपकार करें। क्यों शैल! इनके साथ चलना ठीक होगा न?"

"शैल!" शैल नाम सुनकर राजकुमार चौंक उठे। गम्भीर स्वप्न देखते-देखते सहसा नींद टूट जाने पर जैसे सत्य और स्वप्न

का आभास जड़ीभूत होकर मन को विह्वल बना देता है। किरण का मन भी वैसा ही विह्वल हो उठा। वे मन-ही-मन सोचने लगे—"तब क्या यह मेरे हृदय की .....वही शैलबाला नहीं है? मेरी शैल भी तो अजमेर में ही थी।"

कुमार ने इस बार बालक के मुख-मण्डल में शैलबाला के अवयव देखे, वे बार-बार उसके मुँह की ओर देखने लगे, बार-बार अस्फुट स्वर से उसका नाम उच्चारण करने लगे, उन्होंने अपनी बाल्य-सखी को पहिचान लिया। उल्लास से उनका हृदय अभिभूत होगया; न-जाने किस चिन्ता अथवा अभिलाषा से वे जरा अधीर हो गये—और दूसरे ही क्षण गम्भीर भाव से हृदय की उच्छ्वास को दबाकर मन-ही-मन बोले—"शैल! क्यों तुम कुटीरवासिनी वही बालिका ही नहीं बनी रह गयीं? क्यों तुम वही शैशव-चाञ्चल्य की प्रतिमा नहीं रहीं? ऐसा होता तो आज बचपन के उस सरल प्रेम से तुम्हें त्याग कर लेने में जरा भी सङ्कोच न होता!" कुमार समझ गये कि उन्हें पहचानकर ही शैलबाला ने उनका मन टटोलने की कोशिश की थी। उसकी इस छलना पर वे मन-ही-मन हँसे। किरणसिंह ने हर्ष-गद्गद चित्त से प्रभावती का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। शैलबाला ने भी उनके हृदय का भाव समझ लिया। देखा, आज भी उनका हृदय शैलबालासे पूर्ण है। प्रभावती और शैलबाला के दिल्ली जाने की बात टलती देख, विजय भी बहुत प्रसन्न हुआ। वह इस डर से मन-ही-मन घबरा रहा था कि इन दोनों के दिल्ली जाने पर उसका षड्यन्त्र महाराज

पर प्रकाशित हो जायगा और वे सावधान हो जायँगे। अब वह निश्चिन्त होकर घर की ओर जाते-जाते सोचने लगा—"इस बार विधाता सचमुच पृथ्वीराज पर अप्रसन्न हैं। कविचन्द्र क़ैद होगये, मेरी कुमन्त्रणा बार-बार प्रकाशित होते-होते रह गयी, चारों ओर मुसलमानों की जीत के चिन्ह दीख पड़ते हैं। अब देखना है, मेरी आशा सफल होती है कि नहीं !"

[२२]

मुहम्मद ग़ौरी ने कविचन्द्र को जान से न मारकर क़ैद कर लिया था, इसमें कुछ कारण था। ग़ौरी ने सोचा था कि यदि उसने कवि को मार डाला और लड़ाई में हार गया तो कविचन्द्र की मृत्यु का भीषण बदला उसके लिया जायगा। इसके सिवा यदि लड़ाई में मुसलमानों का कोई बड़ा सेनापति-आदि क़ैद हो गया तो कवि के द्वारा उसे छुड़ाने में सुविधा होगी। और, यदि लड़ाई में ग़ौरी की जीत हुई तो कवि का वध करते कितनी देर लगेगी ? यही सब सोच-समझकर उन्हें कड़े पहरे में क़ैद कर रक्खा था। जब उन्होंने दो-तीन दिन तक मुसलमानों ने ख़ीमे के अन्दर किसी तरह खाना-पीना स्वीकार न किया तो रोज़

थोड़ी देर के लिए उन्हें नदी-तट पर जाकर स्नान-भोजन कर लेने की इजाज़त मिल गयी। उनके साथ छः हथियारबन्द सिपाही रहते थे, और जब तक वे नहा-धोकर और अपने हाथ से खाना पकाकर खा न लेते, पहरेदार उनकी कड़ी निगरानी रखते थे। लेकिन, कई दिनों के बाद यह कड़ाई धीरे-धीरे कम होती गयी, क्योंकि उन लोगों ने देखा कि क़ैदी भागने की कोई कोशिश नहीं कर रहा है। क्रम से सिपाहियों की संख्या भी छः से चार, तीन, दो और कभी-कभी एक रहने लगी। मन-ही-मन उन्होंने सोचा कि अगर क़ैदी भागने की कोशिश करेगा, तो एक ही चिल्लाहट में सैकड़ों आदमी इकट्ठे हो जायँगे।

एक दिन सन्ध्या के समय कविचन्द्र एक पेड़ के नीचे रसोई बना रहे थे। पास ही दो पहरेदार बैठे थे। अमावस्या की रात थी, अन्धकार चारों ओर फैला हुआ था; सिर्फ़ उनके चूल्हे की आग से थोड़ी दूर तक रोशनी हो रही थी। केवल उन्हें नदी में जाती हुई नावों के डाँड़ों का छप्-छप् शब्द और माँझियों का गीत सुन पड़ता था। कविचन्द्र लगातार कई दिनों से एक ही गीत सुन रहे थे, और उन्हें यह समझने में देर न लगी थी कि उनके उद्धार का उपाय हो रहा है। वे धैर्यपूर्वक उस अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। कवि ने आज भी वह गीत सुना। गीत खत्म होने के थोड़ी देर बाद नदी में जाल डालने का शब्द सुन पड़ा और उसके बाद ही एक प्रसन्नता-मिश्रित चीत्कार सुनायी पड़ा—"वाः! इतनी बड़ी मछली फँसी है, कि जिसका

नाम ! कल सुलतान के पास ले चलना होगा—अच्छी तरह से रख दे।" आस-पास के छोटी क़ौमवाले मुहम्मद ग़ौरी को सुलतान कहते थे।

किनारे बैठे हुए सिपाहियों में से एक ने यह बात सुनकर कहा—"यह तो सोमराव मल्लाह की आवाज़ है। ·····अरे ओ भाई ! कौन मछली पकड़ी है ? ज़रा इधर लाओ—देखें !"

पाठकों ने क्या यह समझा है कि सोमराव मल्लाह किरणसिंह हैं ? चन्द्र कवि का उद्धार करने आकर वे कई दिनों से मल्लाह बनकर यहाँ मछली बेचने का रोज़गार कर रहे हैं। साथ में थोड़ी सेना भी है, पर लड़ाई करके चन्द्र कवि को छुड़ा लेना आसान नहीं है, यह वे जानते हैं। इसी से कई दिनों से वे इन लोगों की गति-विधि लक्ष्य कर रहे हैं। रोज़ सवेरे शिविर में मछली बेचने के बहाने जाकर चन्द्र कवि की खबर ले आते हैं। इस प्रकार सब हाल-चाल जानकर आज उन लोगों ने कवि के उद्धार का निश्चय किया है। पहरेदार की बात सुनकर सोमराव मल्लाह ने आनन्दित होकर ज़ोर से कहा—"जमादार साहेब ! सलाम, आप यहीं हैं यह मुझे क्या मालूम ? फिर अब कल की राह क्यों परखूँ ? इसी को कहते हैं प्रारब्ध !" यही कहते हुए मछली लेकर वह तीर पर उतरा। पहरेदार ने कहा—"यहीं उतार।"

मल्लाह ने कहा—"यहाँ तो अँधेरा है—देखिएगा कैसे ? उस रोशनी के पास चलिए। पहरेदार ने घृणा-व्यञ्जक स्वर में कहा—

"अरे, वह हिन्दू है, मछली की गन्ध पाते ही हँड़िया छोड़कर भाग जायगा।"

मल्लाह ने कहा—"हुआ करे, मैं भी तो हिन्दू हूँ। इस गन्ध के समान और भी कोई गन्ध है?" कहते-कहते वह कविचन्द्र के पास चला आया। बोला—"अजी ओ साहब! तुम्हारी रोशनी में मछली उतारूँगा, इसमें दोष क्या है? चौके में तो मैं आता नहीं हूँ।" कवि ने मल्लाह को देखते ही पहचान लिया। उछलते हुए आनन्द का वेग सम्वरण करके बोले—"उतारो।"

मल्लाह ने मछली मिट्टी पर रख दी। देखकर सिपाही की चीन चटखने लगी। उसने कहा—"देरी न करो, झटपट इसे हमीद-अली को दे आओ।"

मल्लाह ने कहा—"माफ़ कीजिएगा, मैं तो न जा सकूँगा। जाल फैला आया हूँ, उसे अभी समेटना पड़ेगा।"

"तो किसी आदमी को भेज दो।"

"आदमी भी खाली नहीं हैं। मछली लेनी हो तो पैसा दो और उठाकर ले आओ।" काफ़िर के मुँह से बार-बार ऐसी बेअदबी की बात सुनकर दोनों मुसलमानों का ख़ून खौल उठा। दोनों चिल्लाकर बोले—"तू नहीं, तेरा बाप जायगा।"

यों ही बढ़ते-बढ़ते बात बहुत बढ़ गयी। मल्लाह ने सिर उठाकर कहा—"जबान सँभालकर बोलो, हम मल्लाह हैं, मुसलमान नहीं हैं।" तब पहरेदार उसे और भी बुरी-बुरी गालियाँ देने लगे। सहसा पेड़ की आड़ से बारह सशस्त्र सैनिक निकल आये। दोनों पहरे-

दार भय से स्तम्भित और निर्वाक् हो गये। क्षण-भर बाद जब उन दोनों ने चिल्लाना चाहा तो छद्मवेशी मल्लाह ने डाँटकर कहा—"चुप रहो! नहीं तो अभी यह तीखी तलवार तुम्हारी···"

दिलीपसिंह की बात खत्म होते-न-होते सैनिकों ने दोनों पहरेदारों के अस्त्र-शस्त्र छीन लिये और उनके मुँह बाँध दिये। इतने में चन्द्र कवि भी रसोई बनाना छोड़कर इन लोगों के पास आ खड़े हुए। उन्होंने कहा—"इनको मारना मत, व्यर्थ ही नर-हत्या करने की क्या जरूरत है? इन्हें पेड़ में बाँधकर चले चलो।"

सिपाहियों ने उनके सिर की पगड़ी खोलकर उसी से उन्हें पेड़ में बाँध दिया। तब सब लोग नदी की ओर चले।

तीर पर एक डोंगी खड़ी थी। उस पर दश सैनिक मल्लाह के वेश में इन लोगों की प्रतीक्षा कर रहे थे। इनके डोंगी पर आते ही दसों सिपाहियों ने डाँड़ चलाना शुरू कर दिया। डोंगी तीर की तरह भाग चली। थोड़ी ही देर में वे एक कोस के लगभग दूर निकल गये। वहाँ नदी में एक नाव इन लोगों के लिए खड़ी थी। उसके पास पहुँचते ही वे लोग कूदकर उस नाव पर चढ़ गये। अब उनका कण्ठ फूटा। कृतज्ञता से उच्छ्वसित हुए हृदय से किरणसिंह को अपने बाहु-पाश में बाँधकर उन्होंने आग्रह के साथ कहा—"मैं तो बचा, लेकिन दिल्ली की रक्षा का क्या उपाय हुआ? महाराज पृथ्वीराज क्या कर रहे हैं? राणा समरसिंह क्या दिल्ली आगये हैं? युद्ध का कैसा आयोजन हो रहा है? दुरात्मा·····" किरणसिंह ने उन्हें रोककर कहा—

"वह फिर कहूँगा, अभी आप नाव के अन्दर आइये।" कहकर उनके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वे कोठरी के अन्दर चले गये। कविचन्द्र भी उनके पीछे-पीछे अन्दर चले गये। कमरे में टिम-टिम करता हुआ एक दीपक जल रहा था। अन्दर आकर कवि ने देखा, दो घूँघटवाली स्त्रियाँ फ़र्श पर बैठी हुई थीं।

चन्द्र कवि आश्चर्य से किरण की ओर देखते रह गये। उनके मन का भाव समझकर किरणसिंह ने कहा—"आप स्वयं ही पहचान लीजिए।" कवि ने फिर उन दोनों की ओर देखा, देखकर आश्चर्य से स्तम्भित रह गये। अब प्रभावती और शैलबाला ने अपना घूँघट हटा लिया था।

कविचन्द्र को अपनी आँखों पर विश्वास न हुआ। उन्होंने आँखें मूँदकर सोचा—"यह मोह है या सच? या सचमुच ही मैं जाग रहा हूँ?" इसी समय शैलबाला और किरणसिंह उन दोनों को अकेला छोड़कर बाहर चले गये। कविचन्द्र ने बार-बार आँखें फाड़-फाड़कर देखा और विस्मय से मुग्ध होकर बैठे रह गये। उस समय प्रभावती स्वामी के चरणों के पास बैठकर निःशब्द रो रही थी।

कविचन्द्र पत्नी के अश्रुपूर्ण मुँह को हृदय में छिपाकर सुख से अभिभूत हो पड़े। कुछ समय इसी प्रकार मोह में बीत गया। उसके बाद इधर-उधर की बातें उठीं। प्रभावती ने न-जाने कितनी बातें सोची थीं, पर आह्लाद के अतिरेक से वे सभी इस समय भूल गयीं। कुछ इधर-उधर की बातों के बाद प्रभावती ने कहा—

"हम लोगों का तो फिर से मिलन हुआ, अब शैलबाला को सुखी बनाना चाहिए।"

"वह क्या दुखी है ?"

"यह तुम नहीं जानते ? 'दिलीप-दिलीप' करके वह दुबली हुई जा रही है। दिलीप कौन है, तुम जानते हो ? उनका असली नाम किरणसिंह है—वे महाराज समरसिंह के पुत्र हैं।

कविचन्द्र ने अत्यन्त विस्मित होकर पूछा—"क्या ? दिलीप किरणसिंह है ?—महाराज समरसिंह के खोये हुए पुत्र ? तुम्हें कैसे मालूम हुआ ?"

"उन्हीं के मुँह से सुना है।"

किरणसिंह से उन लोगों की कैसे मुलाक़ात हुई, प्रभावती ने यह सारी बातें कवि को सुनायीं। उस गुफा में हिन्दू और मुसलमान में जो बातें हुई थी, वह भी बतलायीं। किरणसिंह ने उन बातों को स्वयं पृथ्वीराज के पास न ले जाकर विजय को भेजा है, यह सुनकर कविचन्द्र बहुत दुखी हुए। उन्होंने कहा—"हा दुर्दैव ! जो स्वयं विश्वासघातक है, उसे ही उसकी विश्वासघातकता का सम्वाद देने के लिए भेजा गया है।" क्रोध और निराश से उनका उन्नत ललाट ईषत् कुञ्चित हो गया। मुहम्मद ग़ौरी के शिविर में विजय के साथ ग़ौरी की जो बातचीत हुई थी, वह बतलाने के लिए कवि ने किरणसिंह को बुलाया।

किरणसिंह इस समय अकेले में बैठकर बातचीत कर रहे थे। नाव पर आने के बाद से मुसलमानों का पीछा करते रहने

और प्रभावती के साथ रहने के कारण किरणसिंह को शैलबाला से बातचीत करने का मौक़ा न मिला था। अब सारी आपत्तियों से छुटकारा पाकर दोनों एकान्त में जी खोलकर बातें कर रहे थे। जब से दोनों अलग हुए थे, तब से लेकर आज तक की सारी कहानी दोनों ने एक-दूसरे को सुनायी। इन सारी बातों के बाद शैलबाला ने कहा—"तुम राजपुत्र हो, तुम्हें अब क्या अज्ञात-कुलशीला, बाल्य-सखी शैलबाला की याद भी होगी?"

"तुम्हारी बात से तो यह मालूम होता है कि तुम यदि राज-कुमारी होतीं और मैं वही पहले का दिलीप होता तो तुम मुझे भूल गयी होतीं।"

"स्त्रियों का प्रेम और तरह का होता है। मैं पृथ्वीश्वरी होकर भी तुम्हें न भूल सकती।"

"तो मैं ही क्यों भूलूँगा?"

"मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ, इसलिए।"

"तुम योग्य न होतीं, तब भी मैं तुम्हें न भूलता। लेकिन, शैल! यह तुम कैसे कहती हो कि तुम मेरे योग्य नहीं हो?"

"सभी बातों में। ख़ासकर कुलशील में।"

"यह तुम कैसे कह सकती हो? तुम अपने कुलशील के बारे में कुछ जानती हो?"

"नहीं, लेकिन जानती भी तो कैसे तुम्हारे योग्य होती? मेरे पिता सन्यासी थे। वे चाहे कितने ही बड़े हों, राजवंश के तो नहीं हो सकते।"

"यदि ऐसा ही हो तो ?"

"गड़बड़ी बहुत कुछ दूर हो जायगी। अब बताओ, बात क्या है ? मुझे ऐसा जान पड़ता है कि तुम्हें कुछ मालूम है।"

"कुछ इनाम की आशा हो तो बता सकता हूँ।

शैलबाला ने हँसकर कहा—"बुद्धिमान् आदमी को दिवालिये से पुरस्कार की आशा करते मैंने तो कभी सुना नहीं।"

किरणसिंह शैलबाला को उनका परिचय बताने जा ही रहे थे कि उत्कण्ठित स्वर में कविचन्द्र के पुकारने की आवाज़ सुन पड़ी। क्षण-भर में उनका सुख-स्वप्न टूट गया। उन्होंने समझा कि शायद मुसलमानों ने नाव का पीछा किया है, इसी से वे ज़ोर से चिल्ला उठे 'जल्दी चलाओ' और उछलकर बाहर निकल आये। इतने ही में कविचन्द्र भी बाहर निकल आये। बाहर निकलकर किरणसिंह ने भय अथवा चिन्ता का कुछ कारण न देखा, फिर भी कविचन्द्र को दुखी और क्रोधित देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ। कविचन्द्र ने किरणसिंह से वे बातें बतायीं जो मुहम्मद ग़ौरी और विजय में हुई थीं। सुनकर किरणसिंह बहुत व्यग्र होगये। बोले—"अब देश की रक्षा का क्या उपाय है ?"

"उपाय तो और कुछ दीखता नहीं। अगर मैं मुसलमानों से पहले दिल्ली पहुँच सकूँ तो रक्षा हो सकती है। प्रभावती से मैंने सुना कि तुम चित्तौर जा रहे हो। मेरी राय में तुम प्रभावती और शैलबाला को भी अपने साथ लेते जाओ। मैं तेज़ चलने वाली डोंगी पर बैठकर दिल्ली जाता हूँ। सेना के साथ मुहम्मद ग़ौरी

को दिल्ली पहुँचने में जितना समय लगेगा, उससे पहले ही मैं जल-मार्ग से पहुँच जाऊँगा।"

कविचन्द्र का यह प्रस्ताव किरणसिंह को पसन्द न आया। किरणसिंह के द्वारा ही जब यह काम पूरा हो सकता है, तो क्यों वे पत्नी से मिलते-न-मिलते ही पुनः उनका विच्छेद करावें? किरण ने कहा—"यह सच है कि यह ख़बर इसी वक़्त दिल्ली पहुँचनी चाहिए। अतः मैं डोंगी पर बैठकर दिल्ली के लिए रवाना होता हूँ। आप अपनी पत्नी और शैलबाला को लेकर धीरे-धीरे आइये। इन लोगों के साथ आप ही का रहना उचित है।"

कविचन्द्र ने कहा—"भाई, मुसलमानों के शिविर में रहते हुए मैंने जितनी बातें जानी हैं, उन्हें तुमसे कहने में बहुत वक़्त लगेगा और फिर भी शायद तुम ठीक तरह से न समझ सकोगे; अतः देश के कल्याण के लिए मुझे ही तत्काल दिल्ली पहुँचना चाहिये—स्नेह-ममता के बन्धन में पड़ने से इस समय काम न चलेगा। मेरे भाग जाने की ख़बर पाते ही मुहम्मद ग़ौरी जल्दी-से-जल्दी दिल्ली पहुँचने की कोशिश करेगा; क्योंकि यदि मैं विजय की विश्वासघातकता की बात पृथ्वीराज को बतला दूँगा तो मुहम्मद ग़ौरी के जीतने की आशा न रह जायगी। तुम इन लोगों को लेकर चित्तौड़ जाओ। आशापूर्णा की कृपा से यदि युद्ध में विजय हुई और मैं बचा रहा, तो चित्तौड़ आकर प्रभावती को ले आऊँगा और शैलबाला से तुम्हारा ब्याह करा दूँगा।"

इसके बाद किरणसिंह और क्या कहें? थोड़ी ही देर बाद

कविचन्द्र डोंगी पर सवार हुए। बारह सैनिकों द्वारा खेयी जाकर वह तीर की तरह बह चली और थोड़ी ही देर में अदृश्य हो गई। प्रभावती का पति-मिलन का मुहूर्त, तीव्र विच्छेद-वेदना के रूप में अवसित हुआ

---

[२३]

मुहम्मद गौरी ने जब सुना कि कविचन्द्र भाग गये, तो वह क्रोध से अधीर हो गया। मन-ही-मन उसे बड़ा दुःख होने लगा कि क्यों उसने कविचन्द्र को जीता छोड़ दिया। फिर यह सोचकर सन्तोष किया कि अगर लड़ाई में जीत हुई तो हिन्दुओं से इसका बदला लिया जायगा। मुहम्मद गौरी ने देखा कि कविचन्द्र तो भाग गये हैं, यदि वे हम लोगों से पहले पहुँचे तो हमारी जीत बहुत मुश्किल हो जायगी। अतः उसने प्रस्थान करने में विलम्ब करना उचित न समझा और उसी रात को दिल्ली के लिए रवाना होगये। क्रम से आठ दिन जंगल के रास्ते चुपचाप चलकर रात्रि के समय थानेश्वर के दूसरी ओर पहुँचे, और वहीं एक जंगल में उन लोगों ने डेरा डाला। केवल रात-भर विश्राम करके

और थोड़ी-सी सेना बन में छिपी रहने देकर सबेरा होते ही ३००० घुड़सवार और ४०००० पैदल सेना के साथ मुहम्मद गौरी ने नदी-पार किया और हिन्दुओं की सेना पर धावा बोल दिया। इधर पृथ्वीराज की सहायता के लिए राजपूताना के करद और मित्र-राजे अब तक आ नहीं सके थे। विजय की चतुराई से कई राज्यों को आमन्त्रण ही नहीं मिला था, कइयों को आमन्त्रण मिलने पर भी यह समझा दिया गया था कि उनका आना कुछ आवश्यक नहीं है, और कुछ राजे जयचन्द की सलाह मानकर सहायता देने से विमुख होगये थे। इसी से पृथ्वीराज को अब तक यथोचित सहायता न मिल सकी थी; फिर भी सहायता के भरोसे पर बैठे रहना उचित न समझकर अपनी सेना के साथ वे युद्ध-स्थल पहुँच गये थे। यद्यपि मुसलमानों ने एकाएक हिन्दू-सेना पर धावा कर दिया था, लेकिन चूँकि हिन्दू भी पहले से तैयार थे, अतः मुसलमानों के हिन्दू-पड़ाव तक पहुँचने के पहले ही हिन्दू आगे बढ़कर मुसलमानों से जा भिड़े।

आज युद्ध-क्षेत्र का भयानक रूप देखकर हृदय का रक्त सूख जाता है। एक ओर दशद्रती के पार, जहाँतक दृष्टि जाती है, मुसलमानों की सेना फैली हुई है; किसी के हाथ में बर्छा है, किसी के कृपाण, किसी के बल्लम, किसी के धनुष—सभी मानों आज भारतवर्ष को निःक्षत्रिय करने का संकल्प करके 'अल्लाहो, अल्लाहो' के गर्जन से दिग्दिगन्त को कँपा रहे हैं! दूसरी ओर धनुर्धारी, बर्छाधारी और कृपाणधारी राजपूतों की सेना यवन-संहार-मूर्ति

धारण करके विपक्षियों के हृदय में त्रास उत्पन्न कर रही है। सामने ही नंगी तोपें शत्रु-सेना के विनाश की प्रतीक्षा कर रही थीं। 'पृथ्वीराज की जय' 'समरसिंह की जय' का कोलाहल हिन्दुओं की सेना से उठ रहा है। क्षत्रिय-सेना के सामनेवाली श्रेणी प्रायः एक कोस में फैली हुई हैं, पीछे की श्रेणी में थोड़ी ही सेना है। मध्यम श्रेणी के सेनापति पृथ्वीराज हैं, उनके दाहिनी तरफ़ समरसिंह ने अपनी मेवाड़ी सेना तैनात कर रक्खी है। पृथ्वीराज के बाँयें ओर की सेना के अधिनायक कुमार कल्याण-सिंह हैं। पृथ्वीराज के पीछे की ओर विजयसिंह बहुसंख्यक सैन्य लेकर, आगेवाली श्रेणियों में सेना का अभाव होने पर उसकी पूर्ति करने तथा आकस्मिक दुर्घटना को रोकने के लिए तैनात हैं। इधर मुहम्मद ग़ौरी के आगे की सेना थोड़ी है, किन्तु पीछे दो कोस तक फैली हुई है।

रात बीती, सबेरा हुआ। दोनों सेनाओं में मुठभेड़ हुई। पहले-पहल पृथ्वीराज की सेना ने मुसलमानों की सेना पर आक्रमण किया, और उन्हें छिन्न-भिन्न कर डाला। तोपें विकट गर्जन करने लगीं, तोपों की आघात से सम्मुखीन विशाल आकारवाले मुस-लमान ज़मीन पर लोटने लगे। मुसलमानों की सेना में खलबली मच गयी। कोई मरकर गिरने लगा, कोई भागने लगा। क्रम से पृथ्वीराज की सेना तेज़ी से आगे बढ़ने और जल-प्रवाह की तरह मुसलमानों की सेना को दूर फेंकने लगी। मुहम्मद ग़ौरी पीछे की सेना को आगे बढ़ाने लगा और तोपों की मार से बचने के

लिए उसने थोड़ी दूर हटकर बग़ल से आक्रमण किया। वह सैनिकों को उत्तेजित करने लगा और स्वयं सामने आकर तलवार चलाने लगा। बग़ल से पृथ्वीराज की सेना थोड़ी विचलित हुई, लेकिन शीघ्र ही क्षत्रियों की तलवारों से मुसलमान सैनिकों का सिर कट-कटकर भूमि पर गिरने लगा। मुहम्मद ग़ौरी ने इस बार भीषण पराक्रम के साथ अपनी आधी से अधिक सेना पृथ्वीराज की सेना के उस स्थान पर घुसानी चाही, जहाँ पहली बार के आक्रमण में उन्होंने सन्धि पा ली थी। तुमुल संग्राम होने लगा। समरसिंह और कल्याण की सेना ने आकर मुसलमानों को घेर लिया। घोड़ों तथा रथ के पहियों से उड़ी हुई धूल तथा तोपों के धुँएँ ने आसमान को ढक लिया; ऐसा जान पड़ने लगा मानों प्रलय-काल के बादलों से दिगन्त ढक गया, सूर्य ढक गया, चारों दिशाओं में अन्धकार छागया। तोपों की गड़गड़ाहट, सेनाओं का कोलाहल तथा लड़ाई के बाजों की आवाज एक-साथ मिलकर प्रलय के बज्र की तरह गर्जन करने लगे, दिशाएँ आग उगलने लगीं, विद्युद्वेग से चलती हुई तलवारें प्रलय की बिजली के समान चमकने लगीं। वीरों के पैरों से रौंदी जाकर धरती काँपने लगी, जैसे प्रलय-विप्लव से धरणी केन्द्र-भ्रष्ट होने जा रही हो। पृथ्वीराज ने सामने से, कल्याण ने बायीं ओर से, समरसिंह ने दाहिनी ओर से मुसलमानों को घेर लिया। यदि चौथी ओर से विजयसिंह भी इस अवसर पर आकर मुसलमानों को घेर लेते तो उस व्यूह से एक भी मुसलमान जीता बचकर न निकल पाता, किन्तु

स्वार्थ और ईर्ष्या के वशीभूत होकर विजयसिंह क्षत्रित्व भूल गये थे। वे अपनी सेना के साथ जहाँ-के-तहाँ खड़े रहे। इधर तीन ओर से आक्रान्त होकर और बहुतेरे यवनों को धराशायी होते देखकर मुसलमानी सेना लड़ाई का मैदान छोड़ भागी। मुहम्मद ग़ौरी सब के आगे भागा। पृथ्वीराज, समरसिंह और कल्याण ने उनका पीछा किया और मुसलमानों के रक्त से रण-स्थल को सींच दिया। मुसलमान जब दृशद्वती के उस पार पहुँच गये तो क्षत्रिय वीर विजय की पताका फहराते अपने-अपने डेरों में लौट आये। हिन्दुओं की विजय हुई। सबों ने मिलकर महादेव और देवी आशापूर्णा की पूजा की, तथा सबेरे के पहर थोड़ा सोये। सबेरा होते ही पृथ्वीराज और कल्याण सेना को लड़ाई के लिए अच्छी तरह से तैयार करके महारानी और उषावती को देखने गये। यह निश्चय हुआ कि वहाँ से लौटकर सेना के साथ दृशद्वती के पार जाकर मुसलमानों पर आक्रमण किया जायगा।

---

[२४]

थानेश्वर के राज-शिविर के एक प्रकोष्ठ में बैठी हुई राज-महिषी अपनी मुमूर्षु कन्या उषावती की ओर देख-देखकर रो रही थीं। इन कई दिनों में ही महारानी एकदम बदल गयी थीं। दुःख, शोक और चिन्ता से उनका चेहरा पीला पड़ गया था, मुँह सूख गया था। पास ही पृथ्वीराज और कल्याण खड़े थे। थोड़ी देर बाद पुनः इन लोगों को लड़ाई में जाना पड़ेगा, इसलिए दोनों महारानी से विदा लेने आये थे।

रात्रि बीत चुकी है, किन्तु दिन का प्रकाश अभी यहाँ नहीं पहुँचा है, इसी से रोगिणी के कमरे से दीपक जल रहा है। कल्याण एकटक राजकन्या के निर्जीव-निर्दोष मुखमण्डल की ओर ताक रहे हैं। किन्तु उनके हृदय में क्या विचार उठ रहे हैं, कैसा विप्लव हो रहा है, इसकी कल्पना कौन कर सकता है? आग्नेय-गिरि को फोड़ने के पहले यदि किसी ने उसके अन्दर की हालत देखी हो—यदि किसी ने उसके अन्दर होनेवाले आग्नेय और धातुमय पदार्थों का भीषण घात-प्रतिघात देखा हो तो वही कल्याण के इस समय भावों को समझ सकता है। उनके प्राणों से प्यारी उषावती आज मृत्यु-शय्या पर सोयी हुई है—और इसके कारण वे स्वयं ही हैं। उन्होंने ही उनके निर्दोष चरित्र में कलङ्क लगाया है—भ्रम

में पड़कर उन्होंने ही वज्र-गम्भीर स्वर में 'मायाविनी' कहकर उनके कोमल हृदय को टुकड़े-टुकड़े कर दिया है। कठोर आघात से जिस लता को उन्होंने स्वयं ही छिन्न कर दिया है, आज उसी के लिए उनका हृदय शोकाकुल हो रहा है।

यही सब सोचते-सोचते लज्जा और वेदना से उनका हृदय फटा जा रहा था। पागल की तरह वे उषावती के प्रातःकालीन चन्द्रमा के समान म्लान हो-रहे मुखमण्डल तथा पद्मकोटक के समान अर्ध-मुद्रित नयनों की ओर देख रहे थे। यन्त्रणा के उनका हृदय उच्छ्वसित हो रहा था। कन्या को देखकर जो कष्ट हो रहा था, पृथ्वीराज उसे छिपाने की चेष्टा कर रहे थे। सभी थोड़ी देर तक मौन रहे, फिर पृथ्वीराज ने मौन भङ्ग किया। बोले—"रानी! इस हृदय-विदारक घटना से भी हमें अधीर न होना चाहिए। क्षत्रिय-कुल में जन्म ग्रहण करने के कारण देश की रक्षा करना ही हमारा प्रधान धर्म है, और उसी के लिए आज हम फिर लड़ाई में जा रहे हैं। सैकड़ों बाधाओं और विपत्तियों से भी मैं इस समय न घबराऊँगा, और न पैर पीछे रक्खूँगा। अब मैं चलता हूँ। देवी आशापूर्णा ही सब विपत्तियों से तुम्हारी रक्षा करेंगी।" महारानी रो रही थीं, सारी बातें उनके कानों तक नहीं पहुँची। उन्होंने कहा—"इस बार गृह-लक्ष्मी हम लोगों को छोड़े जा रही हैं, भाग्य-देवी हमारे प्रति निर्दय हैं। ऐसा मालूम होता है कि लड़ाई में इस बार हमारी जीत न होगी।"

पृथ्वीराज ने कहा—"यह क्या महारानी! आज तुम्हारे मुँह

से ऐसी बात क्यों निकल रही है ? शोक से व्याकुल होकर आज क्षत्रिय-वीर्य के प्रति भी तुम्हारे मन में अविश्वास हो रहा है ? धर्म की जय में भी तुम्हें सन्देह होरहा है? कल यवन किस प्रकार दलित और पराजित हुए हैं, यह क्या तुम्हें अभी तक किसी ने नहीं बतलाया ? लेकिन, यदि सचमुच ही ईश्वर ऐसा करें, यदि सचमुच ही इस बार अधर्म की जय हो, अब से यदि चन्द्र-सूर्य पृथ्वी को आलोक न प्रदान करें, तब भी हारकर मैं कभी वापस न लौटूँगा। युद्ध में जीत होने पर ही हमें देख पाओगी, नहीं तो यह अन्तिम भेंट है।"

महारानी ने कहा—"देव ! युद्ध में पराजित होकर तुम जीवित रहो, मैं ऐसी कामना नहीं करती। दुःख मुझे इसी बात का है कि युद्धक्षेत्र में मैं तुम्हारे साथ न मर सकूँगी। लेकिन, यह न समझना कि हमारी यही अन्तिम भेंट है। यदि युद्ध में तुम्हारी मृत्यु हुई तो मैं भी तुम्हारा अनुगमन करूँगी और शीघ्र ही तुम से आ मिलूँगी। देव ! अब तुम विलम्ब न करो। हमलोगों की चिन्ता से मन को दुखी न बनाना।"

कल्याण अबतक एक शब्द भी न बोले। उनके अनुतप्त हृदय से बात निकलती ही न थी। आत्मग्लानि से उनका हृदय फटा जा रहा था, भावनाओं के भीषण घात-प्रतिघात से स्पन्दित हो रहा था। उन्होंने एकबार उषावती के मुँह की ओर देखा, दारुण यातना से उनका हृदय अधीर हो गया, आँखें मुँद गयीं। उन्होंने सोचा—"मैं क्या अब भी यह पवित्र मुँह देखने का

अधिकारी हूँ ? मैं नृशंस हूँ ! स्त्री-हन्ता हूँ ! मुझे यह मुँह देखने का अधिकार नहीं है।" उन्होंने फिर सोचा—"मैं तो अभी युद्ध में जाऊँगा, मरूँगा; तब क्या उषावती के निकट अपराधी बना रह-कर ही मुझे मरना पड़ेगा ? नहीं, मैं उनके निकट अश्रुविगलित आँखों से क्षमा-प्रार्थना करूँगा। क्षमा कर देंगी तो ठीक ही है, नहीं तो युद्ध में प्राणत्याग करके अपने पापका प्रायश्चित करूँगा।··· किन्तु मैं क्षमा किससे माँगूँ ? मेरी उषावती तो बीमार है, बेहोश है ! ओः !" अब कल्याण को सोचने की भी शक्ति न रह गयी। उनका हृदय फटने का उपक्रम करने लगा। उन्हें चारों ओर सूना दिखाई पड़ने लगा, मस्तक घूमने लगा। अवश होकर वे राजकुमारी के पलँग पर उनके पैर के पास बैठ गये। उनका माथा राजकुमारी के पैरों से छू गया। मूर्च्छित अवस्था में भी राजकुमारी ने अपने पैर खींच लिये। दिल्लीश्वर उनकी यह अवस्था देखकर चौंक उठे, थोड़ा डरे भी। पास जाकर उनके सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—"कल्याण ! प्यारे कल्याण !!" किन्तु, कल्याण निस्पन्द रहे, जान पड़ा मानो अचेत हो गये हों। एक ओर मृतप्राय प्राणप्यारी कन्या, दूसरी ओर शोकोन्मत्त महारानी और इधर पुत्र के समान वीरकेशरी कल्याण की यह अवस्था ! पृथ्वीराज का हृदय भी मानों दहल गया। इसी समय बाहर से "वह मुसलमान आया," "वह मुसलमान आया" का शोर सुन-कर उन्होंने समझा कि मुसलमान आक्रमण करने आये हैं। चौंककर उन्होंने कहा—"महारानी ! अब मैं नहीं रुक सकता।

मुसलमानों ने आक्रमण कर दिया है। युवराज कल्याण और उषावती तुम्हारे पास रहे। मैं यहाँ अधिक देर तक रुकूँगा तो मेरे हृदय की दुर्बलता प्रकाशित हो जायगी, स्नेह-ममता के सामने क्षत्रिय-वीर्य पराजित हो जायगा।"

महारानी ने सजल नयनों से कहा—"देव! मैं शोक से विह्वल हो रही हूँ, युवराज और मुमूर्षु कन्या को लेकर अकेली कैसे रह सकूँगी? इस समय तुम्हारे चले जाने से मैं बिलकुल असहाय हो जाऊँगी, फिर युद्ध में....."

उनकी बात खत्म होते-न-होते ही पृथ्वीराज ने कहा—"भद्रे! भगवती कात्यायनी तुमलोगों की रक्षा करेंगी। क्षत्रिय-कुल-लक्ष्मी अभी सोयी नहीं हैं। धर्म ही हमलोगों का सहायक है।"

महारानी ने कहा—"लेकिन..."

पृथ्वीराज—"नहीं महारानी, अब 'लेकिन' नहीं। मैं अनुचित विलम्ब कर रहा हूँ। तुम रोकर हमारे जाने में बाधा न दो।"

"महाराज! क्षत्रिय-स्त्री क्या कभी स्वामी को युद्ध में जाने में बाधा देती हैं? मैं बाधा नहीं देती, सिर्फ़ यही कह रही थी कि जबतक कुमार प्रकृतिस्थ न हो जायँ, तुम यहीं रहो, लेकिन यदि इससे भी युद्ध में कोई विघ्न पड़ता हो तो जाओ, युद्ध में विजय प्राप्त करो।"

यह बातचीत समाप्त होते-न-होते ही एक लम्बी साँस लेकर कल्याण उठ खड़े हुए। महारानी ने कहा—"बेटा कल्याण! शान्त

होओ, शांत होओ!" उनकी बात पर ध्यान दिये बिनाही कुमार अपने आप ज़ोर से कह उठे—"भगवति शैलसुते! देवि क्षत्रिय-कुल-लक्ष्मि!" महारानी ने डरकर कुमार का हाथ पकड़ लिया और बार-बार "कल्याण, कल्याण, युवराज कल्याण!" कहकर पुकारने लगीं। कुमार चौंक उठे। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि उनका करुण क्रन्दन सुनकर भगवती सचमुच ही उनके सम्मुख अवतीर्ण हुई हैं। उन्होंने आँख उठाकर देखा—महारानी उनके सामने खड़ी है। वे थोड़े लज्जित हुए, मुँह की बात मुँह में ही रह गयी; लेकिन फिर आँखें मूँदकर वे अपने आप ही कहने लगे—"भगवति शैलसुते! देवि क्षत्रियकुललक्ष्मि! यदि मैंने जीवनभर तुम्हारी उपासना की हो तो एकबार उषावती को होश में लाओ, मैं केवल एकबार अपना अपराध स्वीकार करके उनसे क्षमा माँग लूँ।" कहते-कहते कुमार के ओठ बार-बार काँपने लगे, आँखों से आँसू की धारा बहने लगी। आँसू से भरी आँखों से उन्होंने फिर एकबार उषावती की ओर देखा। तुषाराहत मुरझाई हुई कमलिनी को देखकर फिर वे स्तम्भित-से रह गये। आँखों की शत-शत धाराएँ सूख गयीं, आँखों में एक बूँद भी पानी न आया। यदि पहले की तरह रो सकते तब भी हृदय की आग बहुत कुछ शान्त होती। किन्तु, वह भी न हुआ—हृदय निस्पन्द, शरीर स्तम्भित रह गया। नस-नस की शोणित-राशि स्तब्ध हो गयी। वे न तो कुछ देख पाते हैं, न सुन पाते हैं और न सोच पाते हैं—ज्योतिहीन आँखें स्पन्दनहीन हो गयी हैं। सहसा शरीर

में रक्त चमक उठा, निर्जीव ज्ञान सजीव हो गया, चिन्ता हृदय में दीख पड़ी, वे फिर सोचने लगे—"आज यह सुन्दर मुख-कान्ति सूखी हुई क्यों है? यह मधुर कण्ठ नीरव क्यों है? यह प्रेम-पूर्ण आँखें मुँदी क्यों हैं? किसलिए आज इनकी माता का हृदय शून्य है? पिता का हृदय टूटा हुआ है? किसलिए आज वे दोनों मृतप्राय हो रहे हैं? मैं पापी हूँ–मैं ही इन सब का कारण हूँ। मेरे हृदय में धीमी-धीमी आग जल रही है, जीवनभर आहुति मिलती रहेगी। तब मैं चलूँ, तोप के जलते हुए मुँह से उड़ जाऊँ, दुनिया से मेरा नाता टूट जाय। हृदय छिन्न होगया है, शरीर भी छिन्न हो, जीवन भी छिन्न हो। तब मैं चला—उषा के पहले ही मैं संसार से विदा ले लूँ।" इसी समय पृथ्वी-राज ने गम्भीर स्वर में कहा—"युवराज कल्याण क्या स्त्रियों की तरह शोक से अधीर हो जायँगे? युद्ध की बात क्या बिलकुल ही भूल जायँगे?"

कल्याण ने कुछ शान्त होकर कहा—"महाराज! चलिए, मैं अभी युद्ध में जाऊँगा।"

पृथ्वीराज ने देखा कि यदि कल्याण अधिक देर तक यहाँ ठहरेंगे तो उनका उत्साह शिथिल पड़ जायगा, वे शोक से और अधीर हो जायँगे। यही देखकर बनावटी क्रोध प्रकाशित करते हुए उन्होंने कहा—"तब क्या क्षत्रिय वीर कल्याण के लिए आज रणक्षेत्र की अपेक्षा रोगी का कमरा अधिक प्रिय होगा?" कल्याण झेंप गया। कुछ उत्तर न देकर रणक्षेत्र में जाने के

लिए उन्होंने सिर झुकाए हुए महारानी से विदा ली; फिर न जाने क्यों अचेत पड़ी हुई उषावती के मुँह की ओर देखे बिना ही पृथ्वीराज के पीछे-पीछे दरवाजे से बाहर हो गये। क्रम से जब सैन्य कोलाहल और रणवाद्य उनके कानों में पड़ा, तब उनका चित्त शान्त हुआ—फिर जब सेना में जा पहुँचे तो केवल समरोत्साह ही उनके मन में बलवान् हो उठा।

---

[२५]

सबेरा होने के पहले जब पृथ्वीराज और कल्याण महारानी के शिविर में गये, उस समय अपने कुछ अनुचर योद्धाओं के साथ योगीन्द्र समरसिंह पुण्यतोया दृशद्वती के तीर पर सन्ध्या-आह्निक करने के लिए गये।

पूजा करते-करते समरसिंह ने देखा कि यवनों की सेना के कुछ सिपाही दृशद्वती पार करने की कोशिश कर रहे हैं, उनमें कुछ आधी दूर तक नदी पार भी कर चुके हैं। उनके पीछे बहुत बड़ी सेना है। समरसिंह ने समझ लिया कि यवन अचानक आक्रमण करना चाहते हैं, अतः वे उनका गति रोध करने के लिये तैयार हो गये। समरसिंह ने पृथ्वीराज को इस बात की खबर भेज दी और स्वयं अपने सैनिकों को लेकर यवनों का गतिरोध

करने लगे। यवन भी आधे जल और आधे स्थल में खड़े हो तथा 'अल्ला-हो-अकबर' के नारे लगा-लगाकर अस्त्र-शस्त्र चलाने तथा आगे बढ़ने लगे। समरसिंह ने अपनी वीरता और पराक्रम से बहुत देर तक रोक रक्खा, पर अन्त में उनकी शक्ति क्षीण हो गयी। यवन समुद्र की तरह उमड़ते चले आ रहे थे। इधर पृथ्वीराज और कल्याण के शिविर से लौटने में विलम्ब होते देखकर सैनिक उनकी अपेक्षा किए बिना ही समरसिंह की सहायता के लिये आगे बढ़ आये। यवनों की सेना भी दूने वेग से अग्रसर होने की चेष्टा करने लगी। इसी समय पृथ्वीराज और कल्याण बहुत से घुड़सवार सिपाहियों के साथ वहाँ पहुँच गये और उन्होंने तत्काल ही यवनों पर आक्रमण कर दिया। समरसिंह भी क्रुद्ध सिंह की तरह दुगुने पराक्रम से मुसलमानों की सेना में घुसकर दावानल की तरह प्रचण्ड और चंचल भाव से शत्रुओं का संहार करने लगे। यवन तो पृथ्वीराज की सेना देखते ही हिम्मत हार गये थे, अब जो क्षत्रियों की तीखी तलवारों का उनके शरीर से स्पर्श हुआ तो वे लड़ाई का मैदान छोड़ भागे, उन्होंने मुड़कर एक बार पीछे भी न देखा।

क्षत्रिय सेना को शिविर में लौटते-लौटते प्रायः दो पहर हो गयी। थके और घायल हुए सैनिक विश्राम करने के लिए अपने-अपने शिविरों में चले गये। उसी दिन तीसरे पहर समरसिंह, पृथ्वीराज, मन्त्री, और विजयसिंह आदि मिलकर यह विचार कर रहे थे कि मुहम्मद ग़ौरी के साथ कैसा व्यवहार करना

चाहिए। अन्त में सबने मिलकर यह निश्चय किया कि मुहम्मद-गौरी यदि अपनी इच्छा से भारतवर्ष छोड़कर चले जायँ, तो अब लड़ाई करने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि अक्षम और भागे हुए शत्रु को क्षमा कर देना ही क्षत्रिय का धर्म है। लेकिन विजयसिंह इस बात पर राजी न हुए। उन्होंने कहा—"म्लेच्छों पर दया करना उचित नहीं है। जब उन्होंने हमारी पुण्यभूमि को अपने पैरों के स्पर्श से कलङ्कित करने का साहस किया है तो उन्हें इसका समुचित दण्ड मिलना चाहिए।"

पृथ्वीराज और समरसिंह ने साथ ही कहा—"दण्ड उन्हें यथेष्ट मिल गया है। दुर्बल को दलित करने से क्या लाभ है? हमलोगों को भी बिना कारण सेना का नाश नहीं करना चाहिए। अब यदि वे देश लौट जाना चाहें तो हम उन्हें क्षमा करके लौट जाने देंगे। यह प्रस्ताव लेकर आज ही एक दूत भेज देना चाहिए, क्योंकि इस बार वे स्वयं इस प्रकार की प्रार्थना करने का साहस न करेंगे।" इसी बात को सबलोगों ने ठीक समझा और इसके अनुसार मुहम्मद गौरी के पास दूत भेजा गया।

मुहम्मद गौरी अत्यन्त प्रसन्नता और कृतज्ञता प्रकाशित करते हुए इस सन्धि के प्रस्ताव पर राजी हो गया। दो दिन युद्ध में हारने के कारण उसकी बहुत सी सेना हत और आहत हो गयी थी। उसने देखा कि यदि दो-एक दिन और इसी तरह पराजित होना पड़ा तो फिर लौटकर देश जाने का मौक़ा न मिलेगा। यद्यपि विजयसिंह के अनुकूल होने के कारण उसे भाग-

कर बार-बार प्राण रक्षा करने का मौक़ा मिल जाता है, लेकिन इससे भी जीत होने की आशा तो है ही नहीं। यही सब सोच-कर मुहम्मद ग़ौरी स्वयं ही पृथ्वीराज के पास दूत के द्वारा सन्धि का प्रस्ताव भेजने का विचार कर रहा था; लेकिन विजय की राय जानने के लिए उसने सबसे पहले गुप्त रूप से विजय के पास ही अपना आदमी भेजा। विजय ने जो सलाह दी, उससे उसके मन में फिर विजय पाने की आशा हुई। विजय ने सलाह दी कि अभी तो सन्धि कर लीजिए, फिर जब हिन्दू निश्चिन्त होकर आमोद-प्रमोद में मस्त हो जायँगे तो सहसा आक्रमण कर दीजिएगा, लेकिन उस समय भी सारी सेना सामने न लाइयेगा। थोड़ी सेना साथ रखिएगा और बाक़ी को जङ्गल में छिपा दीजिएगा। हिन्दू जब लड़ते-लड़ते थक जायँगे तो बाक़ी सेना भी सहसा आकर हमला कर देगी, इस तरह अवश्य ही आपकी जीत होगी।" विजय की सलाह से मुहम्मद ग़ौरी ने सन्धि कर ली। दूत के सामने उसने ऐसा भाव प्रकाशित किया मानो वह पृथ्वीराज के क्षमा-गुण से बहुत ही उपकृत हुआ है और दूत रहते-ही-रहते उसने ख़ीमा उखाड़ने का हुक्म दे दिया। कूच की तैयारियाँ होने लगीं। यह सब देख-सुनकर दूत अपने शिविर में लौट आया।

सन्धि स्थापित हो गयी है और मुहम्मद ग़ौरी ने पृथ्वीराज के सम्मुख अवनति स्वीकार की है, यह ख़बर शीघ्र ही हिन्दुओं की सेना में फैल गयी और तब सेना की आनन्द-ध्वनि तथा

भारतवर्ष की जयध्वनि से आकाशमण्डल विदीर्ण होने लगा। सेनापतियों के आपस में मिलने तथा सैनिकों में उत्सव की बात-चीत होने में समय बीतने लगा। पृथ्वीराज ने सेना में यह आज्ञा प्रचरित करवा दी कि आज रात में देवी आशापूर्णा की पूजा होगी और प्रातःकाल सबको दिल्ली के लिए प्रस्थान करना होगा। उषावती की बीमारी के कारण पृथ्वीराज कुछ सैनिकों के साथ थोड़े समय तक यहीं निवास करेंगे, ऐसा निश्चय हुआ।

दिन भर सारी सेना पूजा की तैयारी में व्यस्त रही। सन्ध्या होने पर पूजा आरम्भ हुई, धूप-दीप, हवन, बलिदान, तथा मन्त्रोच्चारण से दसों दिशाएँ मुखरित हो गयीं। सभी लोग उल्लास और आनन्द में विभोर हो गये। कोई शिविर में, कोई मैदान में, कोई पेड़-तले बैठकर तरह-तरह की बातें करने लगे। सभी लोग इधर-उधर तितर-बितर होकर तथा शराब पीकर नाच-गान में मस्त हो गये। रात बीतते ही सब लोग दिल्ली जायँगे, स्त्री-पुत्र-कन्या का मुँह देख पावेंगे, यवनों की पराजय की कथा कह पावेंगे,—सबके मन में इस तरह का उल्लास और उत्साह भरा हुआ था।

पूजा समाप्त होने पर देवी आशापूर्णा की पूजा का स्थान जब सूना हो गया, उस समय समरसिंह देवी की प्रतिमा के सामने अकेले चुपचाप खड़े थे। हाथ जोड़, आँखें मूँदकर वे कहने लगे—"भगवती आशापूर्णा! तुम्हीं ने अपनी सन्तान पर दया करके हमें यह विजय दी है; इसके लिये क्या कहकर हृदय की

कृतज्ञता प्रकाशित करूँ, समझ में नहीं आता। माँ! तुम अन्तर्यामिनी हो! तुम्हीं हमारी हृदय की दशा समझ लो।" कहकर समरसिंह ने देवी के चरणों में प्रणाम किया। फिर जब वे उठकर खड़े हुए तो उन्हें मालूम पड़ा कि देवी की आँखों से आँसू की दो बूँदें ढुलक पड़ी हैं। देखकर समरसिंह चौंक पड़े, डर गये, उनका सारा शरीर काँप उठा। उन्होंने समझा कि यह किसी अमङ्गल की पूर्व सूचना है। खिन्न होकर वे वहाँ से चले आये, पर उन्होंने यह बात किसी पर प्रगट नहीं की, क्योंकि उन्होंने सोचा कि इस प्रसन्नता के अवसर पर यह सम्वाद सुनकर सबलोग दुखी और हतोत्साह हो जायँगे और इससे भी किसी अनिष्ट का आविर्भाव हो सकता है।

जिस समय समरसिंह देवी की आराधना कर रहे थे, उस समय विजयसिंह चिन्तित हृदय से दृशद्वती नदी के तीर पर टहल रहे थे। दो पहर रात जब बीत गयी तो राजपूत वेशधारी दो-तीन यवन नदी पार करके उनके पास आये। शंकित हृदय से एकबार चारों ओर देखकर वे उनलोगों के साथ बातचीत करने लगे। कुछ देर बाद वे यवन वापस लौट गये, विजय भी धीरे-धीरे शिविर की ओर लौटे।

इस समय पृथ्वीराज और कल्याण कहाँ हैं? वे आज फिर रोगिणी उषावती को देखने गये हैं। युद्ध में विजय पाकर सबलोग कल दिल्ली लौट जायँगे, इसी खुशी से सबलोग उन्मत्त हो रहे हैं, लेकिन कल्याण? उनकी एक मात्र इच्छा व्यर्थ हो गयी,

युद्ध में भी उनकी मृत्यु न हुई। इस समय उनके हृदय की यन्त्रणा का वर्णन कौन करे? उन्होंने सोचा था कि युद्ध में प्राणत्याग करके उषावती से पहले वे इस संसार से मुक्त हो जायँगे, पर कहाँ, उनकी यह इच्छा तो पूरी हुई नहीं। उषावती को इस हालत में देखकर यन्त्रणा भोगते रहने के लिए ही युद्ध में उनकी मृत्यु नहीं हुई? तब, अब उपाय क्या है—आत्महत्या? आत्महत्या की याद आते ही उस दारुण वेदना में भी उनका क्षत्रिय-हृदय सिहर उठा। जघन्य कार्य में प्रवृत्त होने की उनकी इच्छा न हुई। आत्महत्या तो कायरों का काम है, ऐसा करने से चित्तौर राज-वंश की अवमानना होगी, क्षत्रिय सहिष्णुता लुप्त हो जायगी। उन्होंने निश्चय किया कि—"नहीं नहीं, ऐसा मैं नहीं करूँगा। जीवित रहकर चिरकाल तक कष्ट भोगता रहूँगा, जीवन भर अपनी आग में जलता रहूँगा, नहीं तो पाप का प्रायश्चित क्या हुआ? जिस विजन, ज्वलन्त, दिगन्त-प्रसारित मरु-प्रान्तर में पशु भी न होंगे, तृण-लता न होंगे, उसी उष्ण बालुकामय मरु-भूमि में बैठकर उषावती के सुख के लिए देवताओं से प्रार्थना करूँगा; जहाँ आग्नेय-गिरि-गर्भ को भेद करके ज्वलन्त वह्नि और गलित धातुस्रोत उद्गीरित हो रहा है, वहीं, उसी अगम्य भीषण पर्वत में बैठकर उषावती के लिए प्रार्थना करूँगा। नहीं, मैं मरूँगा नहीं, मरने से मेरा दण्ड हल्का हो जायगा, मेरे पाप का ठीक प्रायश्चित न होगा। मैं चिरकाल, अनन्तकाल तक यह दग्ध-यन्त्रणा भोगता रहूँगा।" इसी प्रकार वे तरह-तरह की चिन्ताओं

में डूबे हुए उषावती की ओर देखते रहे। देखते-देखते तीसरा पहर बीत गया। इसी समय सहसा बाहर से भयानक शोर-गुल सुन पड़ा। इस निस्तब्ध कक्ष को कँपाता हुआ फिर सैनिकों का स्वर सुन पड़ा। पृथ्वीराज विस्मय से चौंक उठे—"फिर यह क्या हुआ" कहकर उन्होंने कल्याण की ओर देखा। क्रमशः शोर-गुल बढ़ने लगा। तब पृथ्वीराज महारानी से विदा लेकर, कल्याण का हाथ पकड़े हुए बाहर चले गये।

---

[२६]

रात बीत गयी। सबेरा हुआ। आज कितने दिनों के बाद उषावती को थोड़ा होश हुआ है। महारानी व्यग्र हैं। स्नेह के आँसू उनकी आँखों से ढुलक रहे हैं। आस-पास दासियाँ खड़ी होकर पंखा झल रही हैं। उषावती ने शून्य दृष्टि से आँखें घुमाकर चारों ओर देखा। पास ही बैठी हुई विषण्ण तथा म्रियमाण माता और खड़ी हुई दासियों को देखकर वे विस्मित हुईं—मानो कुछ समझ न सकीं। माँ को रोते देखकर उन्होंने पूछा—"माँ! क्या हुआ है? तुम रोती क्यों हो? ओः! इतना कष्ट क्यों होता है?" यह कहकर उन्होंने महारानी का हाथ अपनी छाती पर रख लिया। बात करते-करते ही वे फिर बेहोश हो गयीं। उषा-

बती की बात से और भी दुखी होकर महारानी कातर दृष्टि से उनकी ओर देखती रह गयीं। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। उन्होंने अपनी गोद से उठाकर उषावती का सिर तकिया पर रख दिया, इसी समय सहसा उषावती "पिता, युवराज" कह कर चिला उठीं। पहले तो महारानी ने समझा कि उषावती का मस्तक हटाने से घाव में दर्द होने के कारण वह चिल्लायी हैं, किन्तु बाद में सोचा कि उन्होंने कोई दुःस्वप्न देखा होगा। पहले उन्होंने देखा कि युवराज कल्याण उनके पैरों पर गिरकर अपना अपराध स्वीकार कर रहे और उसके लिए माफ़ी माँग रहे हैं, फिर युद्ध का दृश्य देखा। पिता को यवनों के हाथ क़ैद होते और कल्याण को रणभूमि में मारे जाते देखकर ही वे चिल्ला उठी थीं। महारानी घबराकर "उषा, उषा, क्या हुआ ?" कहकर बार-बार कन्या को पुकारने लगी।

उषावती को फिर होश आया। उनकी आँखें खुलीं। एक दीर्घ निश्वास छोड़कर, माँ कहकर उन्होंने पुकारा। महारानी ने पूछा—"बेटी ! डर गयी थी क्या ?" उषावती ने धीरे-धीरे अत्यन्त क्षीण स्वर में कहा—"हाँ माँ ! मैंने एक बुरा सपना देखा था। पिता, और—और—"यहाँ उनकी आवाज़ टूट गयी। पीले मुँह पर ज़रा लालिमा दौड़ गयी, तब भी वे कल्याण का नाम न ले सकीं—"वे सब लोग कहाँ हैं ? उन लोगों को देखने का बहुत जी करता है। मैं ने सपने में देखा कि पिता और युवराज—"

उषावती और न बोल सकीं, कण्ठ सूख गया। दुर्बलता के कारण

वे सुस्त हो गयीं। थोड़ी देर बाद वैद्य आये। आज राजकुमारी को होश आया है और उन्होंने बातें की हैं, यह सुनकर वैद्य सोचने लगे कि "आज यह सुलक्षण कैसा दीख पड़ता है? सचमुच ही यह रोग का उपराम है या मृत्यु का पूर्व लक्षण? जो हो आज का दिन बीतने पर सब मालूम हो जायगा!"

अपने मन में ठीक निश्चय न कर सकने पर भी वैद्य ने महारानी से कहा—"आज बहुत अच्छे लक्षण दीख पड़ते हैं। माथा भी ठीक है, अब उसमें लेप की जरूरत नहीं, यह सूचिकाभरण खिलाइये। यदि रातभर यही हालत रही तो राजकुमारी शीघ्र ही निरोग हो जायँगी।"

चिकित्सक चले गये। महारानी और दासियों का मन थोड़ा प्रसन्न हुआ। क्रमशः तीसरे पहर उषावती को फिर होश आया। उन्होंने कहा—"माँ! बड़ी प्यास लगी है।" महारानी ने स्वर्ण-झारी से ढालकर स्वर्ण-पात्र में स्वयं कन्या को जल पिलाया। पीकर उषावती ने कहा—"माँ! मैं स्वप्न देख रही थी कि यहाँ से कहीं चली गयी हूँ। वहाँ बड़े मजे में घूम रही हूँ। कहीं पारिजात फूले हैं और कहीं सोने के कमल। माँ! वहाँ जाने पर मैं तुमलोगों को देख पाऊँगी न?" मन का भाव छिपाकर महारानी ने कहा—"देख क्यों न पाओगी बेटी?"

उषा ने पूछा—"माँ! पिता कहाँ हैं? और—और—"उषावती युवराज की बात पूछते हुए फिर लज्जित हो गयीं।

महारानी ने कहा—"वे लोग युद्ध में गये हैं।"

"मुझसे क्यों नहीं कह गये ?"

"तुम उस समय सो रही थीं।"

उषावती को फिर बातचीत करने में कष्ट होने लगा। उन्होंने धीरे-धीरे कहा—"माँ ! अब मुझसे बोला नहीं जाता। एक बात है,—वहाँ जाने पर फिर उन लोगों से मुलाक़ात होगी न ?"

इसी समय बाहर दरवाज़े पर भयानक कोलाहल सुन पड़ा। महारानी चौंक उठीं। वह कोलाहल उषावती के कानों में भी पड़ा सहसा दो-तीन क्षत्रिय सैनिक दौड़ते हुए कमरे में घुस आये और हाँफते हुए बोले—"आइए, आइए, जल्दी आइए।" दासियों ने मिलकर एक साथ पूछा—"क्यों, क्यों, क्या हुआ?"

उन लोगों ने कहा—"अधिक बातचीत करने का समय नहीं। जल्दी आइये। मुसलमानों की जीत हो गयी। अब वे राज-शिविर लूटने के लिए आ रहे हैं—पालकी तैयार है।"

महारानी ने डर कर पूछा—"और महाराज ?"

उनलोगों ने कहा—"उनको धराशायी होते हमलोगों ने देखा है।"

इस बात से राजकुमारी चौंककर देखती रह गयीं। महारानी ने पागल की तरह फिर पूछा—"समरसिंह—कल्याण ?" कल्याण यह नाम सहसा राजकुमारी के कानों में पड़ा। उन्होंने बल पाया। उत्तर की आशा में ज़रा सिर उठाकर देखने लगीं। उन्होंने सुना—"समरसिंह थके और घायल होने पर भी अभी-

तक यवनों को रोक रहे हैं, नहीं तो अबतक वे शिविर में पहुँच चुके होते।"

"और युवराज कल्याण ?"

"युवराज ने युद्ध में प्राण-त्याग किया।"

सुनते ही राजकन्या का मस्तक मृत्पिण्ड की तरह तकिया पर लोट गया। केवल एक बार उनके मुँह से "पितः ! युवराज !!" ये दो शब्द बड़े कष्ट से निकले, फिर उन्होंने आँखें बन्द कर लीं; चिर-निद्रा में सो गयीं। दीप-निर्वाण हो गया।

कन्या को मृत देखकर महारानी मूर्छित हो गयीं। निरन्तर इतने दिनों से शयन-भोजन त्यागकर वे कन्या की शुश्रुषा कर रही थीं, इस समय एक साथ इतने आघात वे सहन न कर सकीं; किन्तु, दासियों ने शीघ्र ही उपचार करके उन्हें सचेत किया। इसी समय एक सैनिक ने कहा—"महारानी ! अब विलम्ब न कीजिए। विलम्ब करने से विपद् की सम्भावना है।"

महारानी रोते-रोते उठ बैठीं। शरीर के गहने उतारकर इन्होंने दूर फेंक दिये, आँखों के आँसू पोंछ डाले, केश-राशि खोल डाली। पागलिनी के समान शून्य दृष्टि से देखकर, हृदयभेदी गम्भीर स्वर में उन्होंने कहा—"कैसी विपत्ति ! अब मुझे कैसी विपत्ति का डर है ? विपत्ति अब मुझे नहीं हटा सकती। तुम्हें विपत्ति से डर है तो तुम लोग चले जाओ। मैं कहीं न जाऊँगी। क्षत्रिय रमणी पति सन्तान और राज्य खोकर भागना नहीं जानती। शिविका-रोहण के बदले अब मैं चितारोहण करूँगी। तुम लोगों में से

जिसकी इच्छा हो, भागकर प्राणों की रक्षा करे। मैं जैसी महारानी थी, मरने के समय भी वैसी ही महारानी रहकर मरूँगी, क्षत्रिय रमणी की तरह मरूँगी, वीर बाला की तरह मरूँगी, यवन मुझे देख भी न पावेंगे।" यह कहकर महारानी ने तत्काल चिता तैयार करने की आज्ञा दी। लज्जित और हताश सैनिक लौट गये।

[२७]

जिस युद्ध में पृथ्वीराज बन्दी हुए, जिस युद्ध में कल्याण ने प्राण-त्याग किया, उस युद्ध का थोड़ा वर्णन करना यहाँ आवश्यक है। मुसलमानों के साथ हिन्दुओं की सन्धि स्थापित हो जाने के बाद, जिस रात को पृथ्वीराज और कल्याण उषावती को देखने गये थे, उसी रात को तीसरे पहर सन्धि भङ्ग करके यवनों ने चुपचाप दृशद्वती को पार कर लिया। उत्सव में उन्मत्त हिन्दुओं ने जब देखा कि यवनों ने गुप्त रूप से आकर उनके शिविर के एक ओर आग लगा दी है, और विश्वासघात करके मैदान में पड़े हुए हिन्दुओं को मार डाला है, तो वे आमोद-प्रमोद छोड़कर, उसी असज्जित अवस्था में ही आग बुझाने और यवनों का मुक़ाबला करने लगे। सेनाओं की आनन्द-ध्वनि आर्त्त-नाद में परिणत हुआ, बाजों का स्वर तोपों की गड़गड़ाहट में छिप गया। समरसिंह विपत्ति सामने आयी देखते ही घोड़े पर सवार होकर आगे बढ़े, और दोनों हाथों से पागल की तरह तलवार चलाने लगे। उनका घोड़ा भी जैसे वीर-मद में मत्त होकर

उन्हें यवनों के बीचों-बीच ले आया। उनके आसपास की थोड़ी-सी क्षत्रिय सेना भी प्राणपण से युद्ध करने लगी—उनमें से किसी के पास शस्त्र न था, कोई निरस्त्र ही था; किसी ने कवच पहना था, कोई नङ्गे ही बदन था; किन्तु थोड़ी ही देर में सज्जित हो-होकर सेनाएँ उनकी सहायता के लिये आने लगीं। मृत और आहत सेनाओं का स्थान, नये सैनिक पूरा करने लगे। इस समय तक यवनों के आने की खबर पाकर पृथ्वीराज और कल्याण भी सेना में आ चुके थे। समरसिंह जब तक यवनों को लड़ाई में उलझाये हुए थे, तभी तक इन लोगों ने नयी सेना तैयार करके उनकी सहायता के लिये भेजा और स्वयं भी दो ओर से आक्रमण किया। उन्होंने विजय को आज्ञा दी कि विजय तीन हजार घुड़सवार और चार हजार पैदल सेना लेकर पीछे-पीछे आवें। पृथ्वीराज ने भविष्य के लिये इतनी सेना सुरक्षित रख छोड़ी और विजय को ताकीद कर दी कि जब तक वे राज-भेरी न बजावें, विजय इन सिपाहियों को लेकर युद्ध में प्रवृत्त न हों। क्रम से फिर युद्ध होने लगा। तलवार से तलवार भिड़ने लगी, खून की धाराएँ बह चलीं, भयानक कोलाहल से पृथ्वी-आकाश काँपने लगा। थोड़ी देर के बाद इस लड़ाई में भी यवनों की हार हुई। इतनी धूर्तता और कौशल के बाद भी वे जीत न सके। हारने पर डर कर वे इधर-उधर भागने लगे। इधर जीतकर हिंदू उन्मत्त हो गये। इस बार केवल जीतकर ही वे सन्तुष्ट न हो सके, बल्कि उनकी विश्वासघातकता का बदला देने के लिए

भागते हुए शत्रु का पीछा करने लगे। कल्याण उन्मत्त की तरह उस यवन-राशि को भेदकर मुहम्मद गौरी के पीछे दौड़े। पृथ्वीराज और उनकी सेना ने भी कल्याण का अनुगमन किया। उन लोगों का यह उन्मत्त-भाव देखकर वीरश्रेष्ठ समरसिंह भी उनकी सहायता के लिये पीछे-पीछे गये। इस प्रकार दोनों ही दल क्रम से दौड़ने लगे। क्रमशः हिन्दुओं की सेना विशृङ्खला हो गई। मुहम्मद गौरी ने जब देखा कि कल्याण और उनकी सेना, पृथ्वीराज तथा समरसिंह और उनकी सेनाओं को बहुत पीछे छोड़ आये हैं, तब वह सहसा अपनी सेना के साथ लौटकर खड़ा हो गया। कल्याणसिंह तत्काल तेजी से घोड़ा दौड़ाकर उसके पास पहुँचे और बोले—"रे म्लेच्छ! अपनी विश्वासघातकता का दण्ड भोग।" यह कहकर उन्होंने मुहम्मद गौरी की छाती में तलवार मारी, लेकिन वह तीर की तरह पीछे हट गया, इससे तलवार की नोक उसकी छाती में छू-भर गयी। उतने से ही उसकी तीक्ष्णता का अनुभव करके मुहम्मद गौरी ने भी कल्याण के मस्तक को लक्ष्य करके तलवार का वार किया, पर वह उनकी ढाल पर गिरकर चूर हो गयी, उसने फिर कमर से दूसरी तलवार खोल ली, पर उसे तलवार चलाने की जरूरत न पड़ी, क्योंकि इसके पहले ही कल्याण के मस्तक को लक्ष्य करके एक आदमी ने बाण चलाया था। वह बाण कल्याण का माथा छेदता हुआ, ललाट फोड़कर अटक रहा। कल्याण ने चौंककर उसे खींचते-खींचते पीछे फिरकर देखा, विजयसिंह एक और

बाण धनुष पर चढ़ाकर विकट हँसी हँस रहा है। कल्याण ने उनकी ओर देखते-देखते बाण निकालकर एक ओर फेंक दिया, वह जाकर एक यवन के लगा और वह मरकर तत्काल गिर पड़ा।

कल्याण ने विजय की ओर देखा, लेकिन उन्हें अधिक देर तक देखना न पड़ा। उनका सिर घूमने लगा और "रे पापी, उषावती को मारकर भी तेरी रक्त-पिपासा न मिटी?" कहते-कहते वे मृतप्राय होकर जमीन पर गिर पड़े। इसी समय पृथ्वीराज और समरसिंह अपनी सेना के साथ वहाँ पहुँचे। उन लोगों ने मानो सहस्रगुना बल के साथ यवनों पर आक्रमण किया। सहसा मुहम्मद गौरी की छिपी हुई पाँच हजार घुड़सवार और चार हजार पैदल सेना ने आकर हिन्दुओं की उस श्रान्त, क्लान्त, विशृङ्खल सेना को घेर लिया। तब पृथ्वीराज विजय को अपनी शेष सेना के साथ बुलाने के लिए कमर में बँधी हुई भेरी बजाने लगे, पर विजय न आया। पृथ्वीराज तथा समरसिंह आदि प्रति-क्षण अधीरतापूर्वक विजय के आने की प्रतीक्षा करने लगे, पर विजय न आया। विजय के आने तक कुछ समय के लिये मुसलमानों को अटका रखने की इच्छा से ये लोग अपनी थोड़ी-सी थकी हुई सेना के साथ मुसलमानों की उस असंख्य सेना को आगे बढ़ने से रोकने लगे। किन्तु, प्राण-पण से युद्ध करने के बाद भी हिन्दू सेना मैदान छोड़कर भागने को विवश हुई। सेनापतिगण सैनिकों को नयी सेना के आने का आश्वासन दे तथा हिन्दू-वीर्य का स्मरण कराकर किसी

तरह मैदान रोके रहे और देखते रहे कि विजय आ रहा है या नहीं। इसी समय दूर से सेना को आते हुए देखकर पृथ्वीराज-आदि ने समझा कि किसी कारण से विजय ही घूमकर सामने से आ रहा है। सेना भी नयी सेना को आती हुई जानकर नये उत्साह तथा क्रोध से मुसलमानों से भिड़ने लौट आयी, पर हाय! यह विजय की सेना न थी किन्तु मुसलमानों की छिपी हुई सेना थी, जो हिन्दुओं पर आक्रमण करने आ रही थी।

इसी समय पृथ्वीराज ने पराजित सेना के साथ विजय को भागते हुए देखा। उन्होंने समझा कि विजय उसकी बात टाल-कर पहले से ही युद्ध करने लगा था, अब उसकी सजी हुई सेना लड़ाई करने में अक्षम है। समरसिंह और पृथ्वीराज को अब कोई उपाय न सूझ पड़ा। निराश होकर भी जब तक थोड़ी सी सेना को लड़ने में प्रवृत्त रख सके, लड़ने का उन्होंने निश्चय किया। पर अब नयी सेना के आने पर हारे-थके सिपाही और न ठहर सके। कितने ही मरे, कितने घायल हुए, बाक़ी मैदान छोड़ कर भागने लगे। केवल थोड़े से सिपाही अपने प्रभु के साथ प्राण देने के लिये उनके साथ रह गये। उन कतिपय स्वामी भक्त सैनिकों के साथ ही यवनों का संहार करते-करते उन दोनों वीरों ने प्राण दे देने का निश्चय किया। भीषण संग्राम होने लगा। समरसिंह अलौकिक वीरता के साथ कभी आगे, कभी पीछे हट-बढ़कर मूली की तरह यवनों की सेना काटने लगे। किन्तु, यवनों के उस सेना-समुद्र में ये कब-तक तैर सकते थे? सर्वाङ्ग में अस्त्र-

शस्त्रों से विद्ध होकर पृथ्वीराज जमीन पर गिर पड़े। उसी हालत में यवनों ने उन्हें क़ैद कर लिया। मुहम्मद ग़ौरी ने हुक्म दे दिया कि पृथ्वीराज को कोई जान से न मारे।

पृथ्वीराज को भूमि पर गिरते देखकर समरसिंह की रही-सही आशा भी जाती रही, पर वे अतुल पराक्रम से संहार-मूर्ति धारण करके शत्रु नाश करने लगे। उनके पास जो भी आया, वही मरकर जमीन पर गिर पड़ा। समरसिंह के वीर भाव से भीत होकर मुसलमान उनसे दूर ही रहने लगे। तब मुहम्मद ग़ौरी ने समरसिंह पर आक्रमण किया, पर उसे भी उनकी तलवार के सामने आने का साहस न हुआ, अतः पीछे से उसने उनके घोड़े की एक टाँग काट डाली। घोड़े के गिरते ही समरसिंह उछलकर जमीन पर जा खड़े हुए। चारों ओर से उनपर अस्त्रों की वर्षा होने लगी वे दोनों हाथों से तलवार चलाने लगे। समरसिंह को फंसा हुआ देखकर मुहम्मद ग़ौरी ने उनके मस्तक को लक्ष्य करके तलवार का वार किया, किन्तु उससे समरसिंह का केवल दाहिना हाथ कटकर गिर गया। यह देखकर बहुत-सी सेना ने समरसिंह को घेर लिया। कोई हाथ पर, कोई पीठ पर, कोई सिर पर, कोई छाती पर आघात करने लगे। समरसिंह अब और न ठहर सके, अस्त्र चलाते-चलाते ही जमीन पर गिरकर उन्होंने प्राण-त्याग किया। सन्ध्या से पहले ही यवनों की जीत होगयी। चिर-प्रज्वलित दीप इसबार निर्वाण हुआ। धर्म आज अधर्म के सम्मुख नत हो गया, भारतवर्ष आज विषाद के अन्धकार में डूब गया!

[२८]

अब भी दिवस का अवसान नहीं हुआ। आकाश बादलों से ढक गया है। सूर्य ने उन बादलों में अपना मुँह छिपा लिया है। एक ओर रण-क्षेत्र की भीषणता और भी भीषण हो रही है; इधर निर्जन प्रान्त में सजी हुई चिता मानव-हृदय को उदासीनता से अभिभूत कर रही है। महारानी आज अपनी कन्या के साथ इस चिता पर आरोहण करेंगी। वे मौन हैं, वे नया पट्ट-वस्त्र पहनकर, दासियों के साथ इस शोक-समारोह की अग्रवर्तिनी होकर, सञ्चारिणी प्रस्तर-प्रतिमा की तरह चिता की ओर आयीं। चन्दन-माला और वस्त्रालङ्कार से विभूषित कन्या को चिता पर सुलाकर उन्होंने स्वयं भी माथे पर रक्त चन्दन धारण किया और चिता को प्रणाम कर उसपर बैठने जा ही रही थीं कि एक सैनिक वहाँ आया और हाथ जोड़ महारानी के सामने आ खड़ा हुआ। महारानी स्थिर होकर खड़ी रहीं और उन्होंने पूछा—"बलदेवसिंह! तुम्हें क्या कहना है? बोलो!"

"देवि! दिल्लीश्वर ने आपसे एक बात कहने को भेजा है।"

"क्या? दिल्लीश्वर! वे तो रण-क्षेत्र में प्राण-त्याग कर चुके।"

"नहीं देवि! वे घायल और बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़े थे, इसी से लोगों ने मृत समझ लिया था; असल में वे—"

"वे क्या ? बोलो ! तुम्हारी महारानी तुम्हें आज्ञा देती है, बोलो—क्या हुआ ?"

"वे यवनों के हाथ बन्दी हो गये हैं।"

"बन्दी !" सुनकर महारानी चौंक उठीं। दिल्लीश्वर ने उन्हें क्या कहला भेजा है, यह सुनना वे भूल गयीं। सैनिक की ओर घृणा-व्यञ्जक भृकुटि निक्षेप करके और रोष-कम्पित मस्तक दासियों की ओर फिराकर उन्होंने कहा—"दासियो ! ये क्षत्रिय सैनिक, ये क्षत्रिय वीरपुरुष, रणक्षेत्र छोड़कर महाराज के बन्दी होने का शुभ-सम्वाद सुनाने केलिये इतनी दूर कष्ट करके आये हैं। रहें, ये लोग यहीं रहें; या स्त्री-पुत्र-कन्या आदि का मुँह देखने के लिए घर जायँ; किन्तु महाराज दिल्ली के सम्राट् हैं, मैं उनकी प्रजा होकर निरपेक्ष नहीं रह सकती, महाराज मेरे स्वामी हैं, मैं उनकी पत्नी होकर कभी निश्चिन्त नहीं रह सकती। इन लोगों ने कभी क्षत्रिय-जननी के स्तन का दूध नहीं पिया। किन्तु मैं क्षत्रिय कन्या हूँ, मैं क्षत्रिय-पत्नी हूँ, मैं अकेली ही उन्हें बन्धन से छुड़ा लाऊँगी।" यह कहकर जो सैनिक सम्वाद लेकर आया था, उसका कृपाण लेकर और उसीके घोड़े पर सवार होकर, वही पट्ट-वस्त्र पहने, रक्त-चन्दन लगाये, बाल खोले, क्रोध से आँखें लाल किये, वे वीर-पत्नी वीर तेज से उन्मादिनी की तरह रण-क्षेत्र की ओर चल पड़ी अबतक जो सैनिक जड़ होकर खड़े थे, वे भी 'जय भारतकी जय' कहते हुए महारानी के पीछे चल पड़े। दासियाँ उषावती के शव को लिये चुपचाप जहाँ-की-तहाँ खड़ी रह गयीं।

महारानी जब युद्ध करने के लिए निकलीं, उस समय यवनों की उन्मत्त सेना शिविर लूटने के लिए उमड़ती चली आ रही थी। रास्ते में यह रणचण्डी-मूर्ति देखकर वे सहमे, किन्तु जब क्षत्रिय-वीरों ने आकर उनका रास्ता रोका, तब उन्हें होश आया। घमासान लड़ाई होने लगी। महारानी को बीच में घेरकर, प्राणों का मोह छोड़कर मुट्ठी-भर क्षत्रिय, यवनों की असंख्य सेना से लड़ने लगी। यवनों की सेना समुद्र की तरह बार-बार आकर क्षत्रियों से टकराने लगी, पर क्षत्रिय समुद्र-तट की चट्टानों के समान अचल अटल रहे। किन्तु, महारानी उन्मादिनी की तरह आगे बढ़ती गयीं। सहसा उनके हृदय में एक बर्छा आकर घुस गया। वे घोड़े से जमीन पर गिर गयीं। यवन उनके शरीर को स्पर्श न कर सकें, इसलिए एक सैनिक उनके शरीर को अपने घोड़े पर लेकर तीर की तरह भाग चला। यवनों ने उसका पीछा किया, किन्तु बाक़ी सैनिकों ने उन्हें आगे बढ़ने से रोक रक्खा।

सैनिक जब महारानीकी मृत देहको लेकर चिताके पास पहुँचे, उस समय सन्ध्या होगयी थी। अब तक उषावतीको अपनी गोद में लेकर जो चिता महारानी की प्रतीक्षा कर रही थी, उसमें उनका शव रखकर अग्नि-संयोग कर दिया गया। धू-धू करके चिता जल उठी। पतिव्रताका आलोक स्तम्भ स्वरूप दिग्दिगन्तको आलोकित करती हुई वह चिता जलने लगी, अन्तमें चारों ओर अन्धकार करके वह आलोक-स्तम्भ अदृश्य हो गया, साथ ही साथ चतुर्थीका चन्द्रमा भी अस्त होगया, भारत का गौरव-दीपक भी निर्वापित होगया।

चारों दिशाएँ अन्धकारमय—शून्यमय ! स्थानेश्वर आज स्मशान हो रहा है। केवल बीच-बीच में यवनों का आह्लाद-कोलाहल, हिन्दुओं का चीत्कार, घायलों की करुणा पुकार तथा शृगालों का अशुभ चीत्कार आकाश को विदीर्ण करने लगा।

समरसिंह मारे गये, पृथ्वीराज क़ैद हैं ! विजयी मुहम्मद ग़ोरी के लिए आज कैसे सुख का दिन है ! वह आज बहुत व्यस्त है। युद्ध के बाद विश्राम की अपेक्षा किये बिना ही वह तरह-तरह की व्यवस्था करने में उलझा हुआ है। इसी समय एक सैनिक ने आकर महारानी के मारे जाने की ख़बर उसे दी। ग़ोरी ने यह सुनकर कहा—"जाकर तुम हमारे प्रधान सेनापति और सभासदों को यहाँ भेज दो। मैं इस बड़ के पेड़ के नीचे बैठा हूँ।"

सैनिक ने कहा—"जहाँपनाह ! वह तो युद्ध में मारे गये।"

"आज कुतुबुद्दीन को सेनापति नियुक्त किया गया है।"

थोड़ी देर बाद सेनापति तथा सभासद्गण आ पहुँचे। मुहम्मद ग़ोरी ने सेनापति से पूछा—"कुतुब ! सुना है, पृथ्वीराज के क़ैद होने की ख़बर पाकर हिन्दू-बेगम उसे छुड़ाने आयी थी ?"

सेनापति ने कहा—"आयी थी तो उसका फल भी पा लिया !"

"यह तो हुआ। लेकिन, पृथ्वीराज जब तक क़ैद हैं, हमलोग निश्चिन्त नहीं रह सकते। सफलता मिले या न मिले, पर हिन्दू उन्हें छुड़ाने की कोशिश जरूर करेंगे।"

"हिन्दू जिस प्रकार हारे हैं, उससे कभी वे हमारे सामने नहीं आ सकते।"

"तब तुमने अभी हिन्दुओं को पहचाना नहीं है। जब उन्हें मालूम होगा कि पृथ्वीराज जीता है, तो जिन्होंने कभी हाथ में तलवार भी नहीं पकड़ी, वे भी लड़ाई करने के लिए मैदान में उतर आवेंगे। एक औरत का आना इसका सबूत है।"

"ऐसे लोगों की हमें परवा क्या है, जिन्होंने कभी तलवार नहीं पकड़ी ?"

"परवा की बात नहीं, पर मुफ्त में खून-खराबी करने और अपनी जान को अज़ाब लगाये रखने से क्या फ़ायदा है ? बेहतर तो यह है कि उनको मार डाला जाय, फिर कोई खतरा न रह जायगा। अब हमको आपस में यह सोच लेना चाहिए कि उन्हें ज़िन्दा रखना बेहतर है या मार डालना।"

एक सभासद् ने कहा—"पृथ्वीराज को मार डालने के बजाय ज़िन्दा रखना बेहतर है, क्योंकि हमें अभी और जगहों में भी फ़तहयाबी हासिल करनी है। यदि पृथ्वीराज हमारी मदद कर सके, तो उसे ज़िन्दा रखना ही अच्छा है।"

यह बात सब को पसन्द आयी। मुहम्मद गौरी ने पृथ्वीराज को वहाँ लाने की आज्ञा दी। कई सैनिकों के पहरे में, लोहे की ज़ञ्जीर से बँधे हुए पृथ्वीराज वहाँ लाये गये। उनके शरीर में अगणित घाव लगे हुए थे, किन्तु उनकी ओर उनका ध्यान न था। उनकी वीर-मूर्ति और भी तेजस्वी हो उठी थी। बन्दी का यह भाव देखकर मुहम्मद गौरी विस्मित हुआ। उसके मुँह से कठोर वाक्य न निकला। उसने मृदु स्वर में कहा—"महाराज! पिंजली

बार आपने हमारे ऊपर दया की थी, हम आपकी वह दया भूले नहीं हैं, और आप के उपकार का बदला देना चाहते हैं।"

पृथ्वीराज इस बात का क्या उत्तर देते हैं, यह सुनने के लिए मुहम्मद गौरी चुप होगया, पर पृथ्वीराज मौन ही रहे। अनुग्रह की बात सुनकर अपमान और क्रोध से उनका शरीर काँपने लगा। उन्होंने कुछ कहा नहीं, सिर झुकाए चुपचाप खड़े रहे। इन्हें मौन देखकर मुहम्मद गोरी ने कहा—"मैं आपको प्राण-दान दूँगा, और अपने अधीन राज्य भी।"

मुहम्मद गौरी की बात सुनकर पृथ्वीराज की आँखों से आग के अँगारे निकलने लगे, शरीर का खून खौल उठा। मुहम्मद गोरी ने समझा कि शायद प्राण-दान की बात सुनकर इनका शरीर सतेज हो उठा है। उसने फिर कहा—"लेकिन मैं जो आपका इतना उपकार करूँगा, उसके लिए आपको भी मेरा थोड़ा काम करना पड़ेगा। अर्थात् मैं जब भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों को जीतने जाऊँगा, तब मेरे साथ रहकर मेरी सहायता करनी पड़ेगी।"

पृथ्वीराज और अधिक बर्दाश्त न कर सके। अभ्यास के अनुसार उन्होंने कमर से तलवार खींच लेना चाहा, पर उनका प्रयत्न निष्फल हुआ। केवल लोहे की ज़ञ्जीरें झन्-झन् करके रह गयीं। तब वे बन्धन में पड़े हुए क्रुद्ध सिंह की तरह, रुद्ध दावानल की तरह, भीषण मूर्ति धारण करके रोषकम्पित कण्ठ से बोले—"यवन! दुरात्मन्! मैं कैदी हूँ, इसलिये तुझे ऐसा प्रस्ताव

करने का साहस हो रहा है ? मैं यवन के अधीन राज्य-भोग करूँगा ? मैं स्वदेश जाकर—"

क्रोध से उनका गला रुँध गया। उनकी इस गर्वोक्ति से मुहम्मद ग़ौरी को भी क्रोध आगया। उसने अत्यन्त कर्कश कठोर स्वर में कहा—"हाँ, इस समय यवन से सन्धि करना भी दिल्लीश्वर के लिये अपमान है। तब शायद यवन के हाथों मृत्यु ही हिन्दू-राजा के लिये सम्मानजनक है ?"

"यवन के हाथों ? पिशाच के हाथों भी मृत्यु मेरे लिये सम्मान-जनक है। दुरात्मन् ! यवन के साथ बातचीत करना भी क्षत्रिय के लिये कलङ्क है।"

इतना कहकर पृथ्वीराज मौन होगये। मुहम्मद ग़ौरी क़ैदी की यह गर्वोक्ति बर्दाश्त नहीं कर सका। उसने उसी समय अपने सामने पृथ्वीराज के वध की आज्ञा दी। पहरेदारों ने पृथ्वीराज को कुछ दूर ले जाकर सिर झुकाकर बैठने की आज्ञा दी। घातक ने ग़ौरी की आज्ञा से पहले पृथ्वीराज का एक-एक अङ्ग छेद डाला, हर्ष-निष्पन्द आँखों से ग़ौरी यह देखने लगा। किन्तु, इतनी पीड़ा देने पर भी पृथ्वीराज एक शब्द न बोले, ज़रा भी कातर न हुए। तब ग़ौरी की आज्ञा से घातक ने पृथ्वीराज के कण्ठ पर आघात किया। रक्त से सना हुआ मस्तक ज़मीन पर लोटने लगा। वासुकि के सहस्र माथे व्यथित होगये, आसमुद्र भारतवर्ष कम्पित होकर सिहर उठा, स्वाधीनता अनन्त मूर्च्छा में मूर्च्छित हो गयी—दीप-निर्वाण हो गया !

उपसंहार

दीप तो निर्वाण हुआ, अब किरणसिंह, कविचन्द्र, शैलबाला और प्रभावती का क्या हुआ, यही कहकर हम इस उपन्यास का उपसंहार करेंगे। प्राणपण से चेष्टा करके भी कविचन्द्र समय पर दिल्ली न पहुँच सके। विधाता का विधान कुछ और ही था, मनुष्य क्या करे! रास्ते में आँधी आने के कारण एक पत्थर से टकराकर डोंगी उलट गयी। बिना खाये, बिना सोये, बड़ी मुश्किल से जब कविचन्द्र किसी तरह दिल्ली पहुँचे, उस समय मुसलमानों की जीत हो चुकी थी। सब हाल सुनकर उनके मन की क्या दशा हुई, यह कौन बतला सकता है। रास्ते में उन्मादिनी गुलाब से उनकी भेंट हुई। कविचन्द्र उसे साथ लेकर टूटे हुए हृदय से चित्तौड़ चले गये। वहाँ कुछ दिनों के बाद किरणसिंह से शैलबाला का विवाह करके वे प्रभावती और गुलाब के साथ अजमेर चले आये। यहाँ रहकर कविता के बहाने पृथ्वीराज के पराक्रम, गुण और रूप का कीर्तन ही उनका एक-मात्र कार्य रह गया। गुलाब कुछ दिनों के बाद परलोकवासिनी हुई।

उपसंहार के समय विजय के जीवन का उपसंहार बताना भी आवश्यक है। युद्ध में विजय पाने के बाद जब सैनिकों को पुरस्कार देने के लिए मुहम्मद गौरी ने सभा की और स्वयं पृथ्वीराज

के आसन पर बैठे तो सब से पहले विजय ने हाथ जोड़कर राज्य की याचना की। मुहम्मद ग़ौरी ने कहा —"जो अपने देश के प्रति विश्वासघात कर सकता है, उसे राज्य न देकर हमने जो प्राण दान दे दिया, यही बहुत है।" मुहम्मद ग़ौरी की बातें सुनकर विजय की आँखें खुलीं। हज़ारों बिच्छुओं के दंश से उनका मन-प्राण छटपटाने लगा। जीते-जी वे नरक-भोग करने लगे। उस यन्त्रणा से छुटकारा पाने का एक-मात्र उपाय उन्हें मृत्यु ही दीख पड़ी। तब उन्होंने मृत्युशङ्काहीन वीर की तरह मुहम्मद ग़ौरी से कहा —"यवन! मैं बड़ा मूर्ख हूँ। इसी से मैंने नराधम, पापी और कृतघ्न यवन का विश्वास करके देश के साथ विश्वासघात किया है। पापी! मैं इसका बदला लूँगा। इसका बदला लेकर ही अपने सारे पापों का प्रायश्चित्त करूँगा।"

यह कहकर विजयसिंह क्रोध से काँपने लगे। विजय की बात सुनकर मुहम्मद ग़ौरी ने भी क्रोधित होकर उन्हें आजीवन क़ैद रखने की आज्ञा दी। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि विजय के वृद्ध पिता की युद्ध में मृत्यु होगयी थी। पुत्र की विश्वासघातकता जानकर और उसकी यह दुर्दशा देखकर उन्हें वृद्धावस्था में क्लेश न भोगना पड़ा।